Chap-6

अध्याय - 6

गुण-दोष बिचार, छन्द निरूपण, काव्य-हेतु तथा प्रयोजन

कुँवरकुशल ने अपने ग्रन्थ की नवम् तरंग में काव्य के गुणों का विवेचन किया है। उक्त विवेचन का अनुशीलन करने से पूर्व यहाँ पर गुण सम्बंधी सामान्य चर्चा कर लेना उचित जान पड़ता है।

गुण का स्वरूप :

काव्य के अन्य अंगों की तरह गुण भी एक अत्यावश्यक अंग है। प्रारंभ काल से ही यह विवादास्पद भी रहा है। इसके विवेचन में हमें प्रमुख रूप से दो विचारधारायें मिलती हैं एक भरत, दण्डी, वामन की तथा दूसरी उत्तरार्द्ध के आचार्य आनन्दवर्द्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट व विश्वनाथ की। प्रथम वर्ग गुणों को शब्दार्थ गत मानता है, तो दूसरा रसगत। हाँ काव्य की शोभा बढ़ाने वाले के रूप से सभी विद्वान् सहमत हैं। भरत ने उन्हें दोष का विपर्यस्त माना अर्थात् यदि दोष काव्य के विघातक हैं तो गुण काव्य के विधायक। इन्हें अलंकारों के समकक्ष स्थान देते हैं। अत: "गुण रसानुकूल प्रयोग के आश्रय से काव्य शोभा के वर्द्धक हैं।[1] दण्डी ने रस को गुण पर आश्रित माना। गुण को भी अलंकार का एक विशेष प्रकार मानते हुए उत्कृष्ट काव्य के प्राण कहा। "गुण अलंकार तो हैं परन्तु वैदर्भ ~~००००~~के काव्य के। वह काव्य जो इष्ट अर्थ से संयुक्त पदावली से सम्पन्न है उसके 'प्राण' अर्थात शोभाकारक (अनिवार्य) धर्म है।[2] वामन ने सर्वप्रथम गुण की परिभाषा दी[3] और इनके स्वतंत्र अस्तित्व पर बल दिया। रीतिरात्मा काव्यस्य : कहते हुए भी रीति को गुणों पर आश्रित माना। उसी के (गुण) कारण रीति अपनी सार्थकता सिद्ध करती है। विशेषो गुणात्मा अर्थात् गुण कारण है तो रीति कार्य।

1- हिन्दी रीति-परम्परा के प्रमुख आचार्य-डॉ0 सत्यदेव चौधरी, पृ0 538से उद्धृत।

2- वही - पृ0 538 से उद्धृत।

3- काव्यशोभाया: कर्तारो धर्मागुणा:। ~~3.1.1.~~
काव्यलंकारसूत्रवृत्ति, पृ0 113

संस्कृत में उत्तरार्द्ध के आचार्यों में आनन्दवर्द्धन ने गुणों को रसाश्रित कहकर गुण सम्बंधी मान्यता को एक नवीन मोड़ दिया। इन गुणों को आत्मा के शौर्यादिवत् कहकर सम्बोधित किया।[1] मम्मट ने भी इन्हीं के आधार पर अपना कथन प्रस्तुत किया।[2] साहित्य दर्पणकार का कथन है कि - देह में आत्मा के समान काव्य में अंगित्व अर्थात् प्रधानता को प्राप्त जो रस उसके धर्म(माधुर्यादिक) उसी प्रकार गुण कहाते हैं जैसे आत्मा के शौर्य आदि को गुण कहा जाता है।[3]

अत: जहाँ पहले उसके बाह्याकार को महत्व दिया जाता था प्रकारान्तर में उसी के आंतरिक रूप पर बल दिया जाने लगा। पहले गुण शब्दार्थ की शोभा बढ़ानेवाले थे और अब इन्हें रस का धर्म माना जाने लगा।

हिन्दी के आचार्य संस्कृत की परवर्ती परम्परा का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। आचार्य चिन्तामणि मम्मट की तरह गुण की अचल स्थिति को स्वीकार करते हैं।[4] कुलपति के अनुसार गुण रस का धर्म है और वह उसका उत्कर्ष करता है, सरस रचना में अचल भाव से स्थिर रहता है।[5] भिखारीदास की भी यही मान्यता रही है।[6] प्रतापसाहि भी इसी मान्यता का मण्डन करते हैं।[7] हमारे

1- तमर्थमवलम्बन्ते येऽंगिनं ते गुणा: स्मृता: ।
ये तमर्थरसादिलक्षणमंगिनम् सन्तमवलम्बन्ते तेगुणा: शौर्यादिवत् ।
ध्वन्यालोक(उत्तरार्द्ध) पृ0 726

2- ये रसस्यांगिनो धर्मा: शौर्यादय इवात्मन: ।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणा: ।। काव्यप्रकाश, पृ0 282

3- रसस्यांगित्वमाप्तस्य धर्मा: शौर्यादयो यथा ।गुणा: साहित्यदर्पण, पृ0 264

4- जे रस आगे के धरम ते गुन वरने जात ।
आतम के ज्यों सूरतादिक निहचल अवदात ।।
हिन्दी रीति-परंपरा के प्रमुख आचार्य-डॉ0 सत्यदेव चौधरी, पृ0 558 से उद्धृत ।

5- जो प्रधान रस को धरम, निपट बढ़ाई देत ।
सोइ गुण कहिये, अचल थिति, रस को परम निकेत। रसरहस्य, अष्ठ, छं0सं0 २

6- ज्यों जीवात्मा में रहें, धर्मसूरता आदि ।
त्यों रस ही महात गुन, बरने गने सवादि ।।डॉ0 सत्यदेवचौधरी, पृ0 582

7- ज्यों शरीर के धर्म में सोय अधिक पहिचानि ।
त्यों रस में उत्कर्ष गुण अचल स्थित जिय जान ।।वही, पृ0 592 से उद्धृत ।

आलोच्य आचार्य कुँवरकुशल भी इसी मत के समर्थक हैं। इनका कथन है -

जो रस अंगी धरम जह शौर्यादिक सरसाय।
बहुत बडाई हेतु वह गुन सु अचल थिति गाय ।।[1]

इन सभी परिभाषाओं और मान्यताओं का विश्लेषण करते हैं तो निष्कर्ष यही निकलता है कि गुण काव्य के अंगी रस से सम्बद्ध है। इनकी स्थिति अचल है अर्थात् काव्य में रस और गुण का सम्बन्ध नित्यता का भाव लिए हुए है और काव्य में रस के उत्कर्षाधायक है।

गुण और अलंकार :

इस सम्बंध में दो प्रकार की मान्यताएँ मिलती हैं एक अभेदवादी तथा दूसरी भेदवादी । शब्दार्थ पर आधारित मानने वाले वर्ग में से भामह और उद्भट अभेदवादी मान्यता के समर्थक हैं। ये आचार्य गुण और अलंकार में नितान्त अभिन्नता मानते हैं। उनका कथन है कि शौर्यादिगुण और हारादि अलंकार तो अलग हो सकते हैं क्योंकि शौर्यादि गुण आत्मा में समवाय सम्बंध से रहते हैं और हारादि का शरीर के साथ संयोग सम्बंध। परन्तु काव्य में गुण और अलंकार दोनों ही समवाय सम्बंध रूप से रहते हैं इसलिए अन्तर नहीं है।[2] इन्होंने भेद करनेवालों को भेड़ चाल के समान अविवेकपूर्ण माना है। वास्तव में इनकी मान्यता इनके सम्प्रदाय अथवा सिद्धान्त के अनुसार है अर्थात् ये आचार्य अलंकारवादी हैं। अतः काव्य में अलंकार की अनिवार्यता मानते हैं अथवा कहें तो आत्मिक स्थान

1- जससिन्धु, छन्द सं0 2

2- काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, पृ0 114 से उद्धृत।

अलंकारों को देने वाले हैं। इसलिए अलंकार की अत्यावश्यकता के साथ-साथ गुणों की अत्यावश्यकता के समर्थक हैं। दूसरा वर्ग भेदवादी आचार्यों का है जो अलंकार और गुण में पर्याप्त भिन्नता मानते हैं। आनन्दवर्द्धन, मम्मट, विश्वनाथ प्रभृति इसी वर्ग के अंतर्गत आते हैं। आनन्दवर्द्धन का विचार है कि अंगिभूत रस के आश्रित रहनेवाले धर्मों को गुण कहते हैं और अंगभूत शब्द तथा अर्थ में रहनेवाले धर्म अलंकार कहलाते हैं। मम्मट की मान्यता है कि शब्द और अर्थ के द्वारा नियत से नहीं अपितु कभी-कभी उपकृत करते हैं वे हारादि के समान अलंकार होते हैं।[1] काव्य में अलंकार अस्थिर हैं जबकि गुण स्थिर तथा अलंकार अनित्य है जबकि गुण नित्य। 'सगुणावनलंकृती पुन: क्वापि' अर्थात् गुण सहित हो अलंकार न हो तो भी चल सकता है अर्थात् बिना गुणों के काव्य असम्भव है। जबकि बिना अलंकारों के भी काव्य हो सकता है। वामन भी कहते हैं कि उस (काव्यशोभा) के अतिशय के हेतु अलंकार होते हैं।[2] अपने मत के प्रतिपादन के लिए दृष्टान्त देते हुए कहते हैं कि शुद्ध रूप अलंकारों के बिना भी सुन्दर लगता है और सुन्दर रूप अलंकारों से भी शोभा पाता है लेकिन लावण्यशून्य शरीर के समान काव्य-वाणी गुणों से शून्य हो तो निश्चय ही लोकप्रिय आभूषण भी भद्दे मालूम होने लगते हैं।[3] विश्वनाथ भी अलंकारों को अस्थिर धर्म मानते हुए कहते हैं कि अलंकार शब्द अर्थ के शोभातिशायी अस्थिर धर्म हैं। गुण के समान आवश्यक स्थिति नहीं। "अस्थिरा इति नैषाम् गुणवदावश्यकीस्थिति। रसानुभूति प्रक्रिया में गुणों का योग प्रत्यक्ष रहता है अलंकारों का अप्रत्यक्ष। ये वाच्य वाचक का उपकार करते हुए व्यंग्य रस के परिपाक में योग देते हैं। अलंकार चमत्काराश्रित

1- उपकुर्वन्ति तम् सन्तम् येऽङ्गद्वारेण जातुचित।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादय: ।। काव्यप्रकाश, पृ0 284

2- तदतिशयहेतवस्त्वलंकारा। काव्यालंकारसूत्रवृति। पृ0 116

3- वही - पृ0 117

रहने के कारण कभी-कभी चित्त को भी चमत्कृत करते हैं। अत: यह कार्य गौण रूप से रहकर करते हैं। इसी तरह मम्मट भी यहाँ कहते हैं कि रसविहीन रचनाओं में अलंकार केवल उक्ति वैचित्र्य की सृष्टि करते हैं पर रसविहीन रचना में गुण के अस्तित्व का प्रश्न ही नहीं उठता।[1]

यों तो हिन्दी रीति परंपरा के आचार्य कुलपति मिश्र भी गुण और अलंकार को समान महत्व देते हैं तथापि दोनों में मुख्यान्तर है वही उनके महत्व को घटाता और बढ़ाता है। उनका कहना है कि अलंकार शब्दार्थ के माध्यम से रस का उत्कर्ष कभी करते हैं और कभी नहीं लेकिन गुण तो सीधे ही रस के उत्कर्ष का कारण बनते हैं। क्योंकि इनकी स्थिति निश्चल होती है -

होय बड़ाई दुहुन ते, विरस करैं नहिं कोय।
अलंकार अरु गुनन तें, भेद कौन विधि होय ।।
रसहि बढ़ावैं होय जहँ कबहुँक औ निवास।
अनुप्रास उपमादि ते अलंकार सुप्रकाश।[2]

इतना ही नहीं, वे तो यहाँ तक मानते हैं कि काव्य यदि दोषरहित हो परन्तु गुणसम्पन्न न हो तो वह काव्य सुखदायक नहीं हो सकता।[3] अत: इससे यह सिद्ध होता है कि काव्य में अलंकारों की अपेक्षा गुण की निहिति अधिक अनिवार्य है। सोमनाथ भी इसी प्रकार का भाव अभिव्यक्त करते हुए कहते हैं कि-

---

1- काव्यप्रकाश, पृ0 285

2- रसरहस्य, षष्ठ वृ. पृ0 13, 14

3- दोष रहितहु गुन बिना सुखदायक नहिं होइ।
वही, सप्तक छन्द सं0 1

कविता दोष विहीन हू बिन गुण लसै न मित्र ।[1]

आगे दोनों का भेद प्रकट करते हुए कहते हैं - 'गुण सदा एक रस है और अलंकार कभी रस का पोषक बनता है, कभी उदासीन रहता है और कभी दूषक बनता है ।[2] भिखारीदास गुण को रंग और स्वरूप का विधायक मानते हैं[3] क्योंकि यदि रंग और स्वरूप सुन्दर है तो आभूषण उसकी शोभा को बढ़ाकर द्विगुणित कर देते हैं । यह उनकी निजी मान्यता है ।

अब कुँवरकुशल की मान्यता पर दृष्टिपात करें -

कुँवरकुशल गुणों को रस का अधिक उत्कर्ष अथवा सौन्दर्य को बढ़ाने वाले मानते हैं । यों कविता करना बड़ा कठिन कार्य है परन्तु यदि कोई काव्य दोषरहित होते हुए भी गुण सहित न हो तो उसमें दीप्ति का समावेश नहीं हो सकता ।[4] गुण तो रस पर (अंगी) अवलंबित है जबकि अलंकार अंगों के अर्थात शब्दार्थ के -

माधुर्यादि कर सधरमा प्रगटै सुबरन पाय ।।
अंगी कौं अवलंबि है । वे गुन कहो बताय ।।
अंगी दीपावै इहां सब मिलि होइ सवाद ।।
कटक हार उपहार कर अंगनि कौं आल्हाद ।।[5]

1- हिन्दी रीति-परंपरा के प्रमुख आचार्य-डॉ0 सत्यदेव चौधरी, पृ0 577

2- वही - पृ0 577

3- भिखारीदास (द्वितीय खण्ड) सं0 विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 5

4- दोषरहित पै गुन नहि दीपै कविता दूषण कौ काम ।
कहै इहां गुन कुंअर कबित के रसजुतअति आराम ।।
जससिन्धु, नवम तरंग, छन्द सं0 1

5- वही- पृ0 7,9

इसके लिए दृष्टांत भी प्रस्तुत करते हैं यदि कोई वृहद्काय शरीर वाला मनुष्य हो और वह कायर हो तो उसका वह बलिष्ट शरीर किसी काम का नहीं। दूसरी ओर एक दुबला पतला व्यक्ति यदि शूरता के गुण से सम्पन्न है तो वह भी आदर का पात्र बनता है। अतः इससे सिद्ध होता है बाह्य सौन्दर्य हो और आंतरिक न हो तो उसकी सार्थकता सिद्ध नहीं होती लेकिन दूसरी ओर यदि बाह्य सौन्दर्य न होकर भी आंतरिक गुण हो तब भी वह अच्छा गिना जायेगा। रस और गुण में तो समवाय वृत्ति का सा सम्बंध है अथवा तंतु पट न्याय का सा सम्बंध है -

रसगुन कै रसना विषै सही वृति समवाय ।।
कवि सहृदय यौं कहत हैं निरषि तंतुपट न्याय ।।[1]

अर्थात् समवाय सम्बंध से तात्पर्य नित्य सम्बंध से है। रस और गुण में नित्य सम्बंध है जबकि अलंकार और रस में अनित्य। रस और गुण में तंतु पट न्याय का सा सम्बंध है अर्थात् जिस प्रकार वस्त्र का निर्माण विभिन्न तन्तुओं अथवा रेशों से मिलकर होता है। तंतुओं के अभाव में वस्त्र का अस्तित्व असम्भव है उसी प्रकार रस की स्थिति भी तभी स्वीकार की जा सकती है जब उसमें गुण विद्यमान हों। यह कुँवरकुशल की अपनी निजी मान्यता है। इस दृष्टांत के द्वारा रस और गुण के अभिन्न सम्बंध पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। अलंकार और रस के सम्बंध में कहते हैं कि अलंकार संयोगवश ही आकर रस में मिल जाते हैं अन्यथा उनका सम्बंध कुंडबदिर का सा है [2] अर्थात् जिस प्रकार कुंड, बदिर (बेर का पेड़)

1- लखपतिजससिन्धु, नवम् तरंग, छं0 सं0 14

2- कहि संयोग की वृतिसौं अलंकार रस आय ।
अनुप्रास उपमादि ये कुंडबदिर के न्याय ।।
वही, छन्द सं0 15

दोनों की स्थिति को एक दूसरे के सामने बताने पर किसी प्रकार की स्पष्टता नहीं होती । उसी प्रकार रस और अलंकार का सम्बंध भी अस्पष्ट ही रहता है। अर्थात् अपरोक्ष रूप से भले ही रस के लिए लाभदायी हो परन्तु प्रत्यक्षत: वह संयोगवश ही लाभान्वित सिद्ध हो सकता है । एक अन्य दृष्टांत देते हुए कहते हैं कि -

गुन रस भूषन के गिनत सबै वृति समवाय ।
गड्डरिका परवाह गति निरखि उहां ये न्याय ।।[1]

वास्तव में इस दृष्टांत को उद्भट ने उन लोगों के लिए उद्धृत किया था जो गुण और अलंकार की भिन्नता को स्वीकार करते हैं। परन्तु कुँवरकुशल ने उन्हीं के लिए कह दिया है जो कि गुण और अलंकार की अभिन्नता को मानते हैं। ऐसा कहकर कुँवरकुशल ने न केवल गुण और अलंकार की पृथक स्थिति स्वीकार की है वरन् उन लोगों पर प्रहार भी किया है जो दोनों की समवाय स्थिति स्वीकारते हैं। कुँवरकुशल पहले विवेचक हैं जिन्होंने इतना साहस प्रदर्शित किया है । अत: हम कह सकते हैं कि कुँवरकुशल अलंकार की अपेक्षा गुणों की निहिति अत्यावश्यक अनुभव करते हैं।

गुणों की संख्या :

गुणों की संख्या के सम्बंध में पर्याप्त मतभेद हैं। एक वर्ग गुणों की संख्या दस मानता है तो दूसरा वर्ग मात्र तीन । इसके अतिरिक्त समय-समय पर विद्वानों के द्वारा गुणों की संख्या घटाई और बढ़ाई जाती रही है। भरत ने दस गुण माने।[2]

1- वही- पृ0 छन्द सं0 16

2- श्लेष: प्रसाद: समता समाधि: माधुर्यमोज: पदसौकुमार्यम् ।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता चकांतिश्च काव्यस्य गुणा दशैते ।।
हिन्दी रीति-परंपरा के प्रमुख आचार्य-डॉ0 सत्यदेव चौधरी, पृ0 54 से उद्धृत ।

इसके अतिरिक्त दण्डी,वाग्भट प्रथम, वाग्भट द्वितीय और उद्भट आदि भी हैं। वामन ने भी दस गुण तो माने हैं परन्तु उन्हें शब्दगत और अर्थगत कहकर उनकी संख्या बीस तक निश्चित की है। बौद्ध आचार्य संघरक्षित ने अपने ग्रन्थ सुबोधालंकार में भी दस गुणों की ही चर्चा की है।[1] जयदेव ने आठ गुण माने और कांति और अर्थ0 अर्थव्यक्ति को श्रृंगार और प्रसाद में समाहित कर दिया।[2] ध्वनिवादी आचार्यों ने केवल तीन गुणों की ही स्थापना की। शेष सभी गुणों को माधुर्य, ओज और प्रसाद में ही सम्मिलित करके बता दिया। आनन्दवर्द्धन, मम्मट, हेमचन्द्र, विद्याधर, विश्वनाथ, जगन्नाथ इसी वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। कुन्तक का गुण विभाजन कवि-स्वभाव पर आधारित है इन्होंने ने भी दण्डी और वामन की तरह मार्ग ही कहा। परन्तु इनके द्वारा निर्धारित किए गए सुकुमार, विचित्र और मध्यम वैदर्भी आदि के समान देशपरक नहीं है। इन्होंने अन्य विद्वानों की तरह श्लेषादि गुण न स्वीकार कर औचित्य और सौभाग्य नामक साधारण और माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य नामक विशेष गुण कहे। औचित्य और सौभाग्य तो सभी में मिलते हैं परन्तु अन्य प्रत्येक मार्ग में विभिन्न रूप से।[3]

हिन्दी में भी तीन गुण ही प्रधानतः माने गये हैं। चिन्तामणि, कुलपति मिश्र, सोमनाथ इत्यादि की तरह ही कुँवरकुशल ने भी तीन ही गुणों का विवेचन किया है - माधुर्य, ओज, प्रसाद।

1- बौद्धालंकार शास्त्रम्-डॉ0 ब्रह्ममित्र अवस्थी, पृ0 42

2- श्रृंगारे च प्रसादे च कान्त्यर्थव्यक्ति संग्रह :।

चन्द्रालोक-पृ0 94

3- हिन्दी रीति-परंपरा के प्रमुख आचार्य-डॉ0 सत्यदेव चौधरी, पृ0 542 से उद्धृत।

माधुर्य :

कुँवरकुशल रस के प्रथम चरण के रूप में माधुर्य को स्वीकारते हुए कहते हैं कि जहाँ पर चित सुनने मात्र से द्रवित हो जाता है और बहुत सुख उत्पन्न होता है वह माधुर्य गुण है ।[1] वामन ने रचना के पदों की पृथकता अर्थात् समास रहित पदों के प्रयोग को माधुर्य कहा है ।[2] मम्मट का कथन है कि जिसे माधुर्य कहते हैं वह एक ऐसा आह्लाद अथवा आनन्द है, जैसे कि श्रृंगार रस (संभोग श्रृंगार) के आस्वाद का आनन्द जिसमें (काव्य और नाट्य के) सहृदय सामाजिक का मन पिघलता सा प्रतीत हुआ करता है ऐसा लगा करता है जैसे उसमें कोई अलौकिक कोमलता व्याप्त हो, गई हो ।[3] ध्वन्यालोक कार के मतानुसार श्रृंगार ही मधुर तथा परम आनन्ददायक रस होता है । श्रृंगार रसमय काव्य का आश्रय लेकर माधुर्यगुण अवस्थित होता है ।[4] आचार्य संघरक्षित ने शब्द साम्य के आधार पर माधुर्य गुण को व्याख्यायित करते हुए कहा है अनुप्रास (शब्द साम्य) पूर्वक पदों की निकटता को मधुरत्व कहते हैं ।[5] जयदेव दूसरी बार कही बात की रमणीय विचित्रता को माधुर्य गुण का लक्षण मानते हैं ।[6] हिन्दी के आचार्यों ने भी

1- जाके सुनिबे तें जहाँ द्रवे चित सुखदाय ।
कहत मधुरता कुंअर ये प्रथमहि रस कौ पाय । लखपतिजसिन्धु, नवम् तरंग, छन्द सं0 17

3- माधुर्य आह्लादकत्वम् माधुर्यम् श्रृंगारे द्रुतिकारणम् ।
काव्यप्रकाश, पृ0 290

2- पृथक्पदत्वम् माधुर्यम्- काव्यालंकारसूत्रवृत्ति-पृ0 31

4- श्रृंगार एव मधुर: पर: प्रह्लादनो रस: ।
ध्वन्यालोक, पृ0 451

5- मधुरत्वम् पदासत्तिरनुप्रासवशात् बौद्धालंकार शास्त्रम्- पृ0 45

6- माधुर्य पुनरुक्तस्य वैचित्र्यं चारुतावहम् । चन्द्रालोक, पृ0 90

संस्कृताचार्यों के आधार पर ही माधुर्य गुण की व्याख्या की है। चिन्तामणि का कथन भी मम्मट से मिलता है।[1] सोमनाथ[2] और प्रतापसाहि[3] भी कुछ इसी प्रकार का आशय प्रकट करते हैं। कुँवरकुशल का बहुत कुछ कथन कुलपति मिश्र के कथन से समानता लिए हुए प्रतीत होता है।[4] माधुर्य गुण के लिए किस प्रकार के वर्णादि होने आवश्यक हैं इसके सम्बंध में कुँवरकुशल ने जो कुछ कहा है वह अपने पूर्ववर्ती संस्कृत और हिन्दी आचार्यों के मत को ही अभिव्यक्त करता है।[5] कुँवरकुशल ने जो

1- हिन्दी रीति-परंपरा के प्रमुख आचार्य-डॉ0 सत्यदेव चौधरी, पृ0 559 से उद्धृत।

2- वही- पृ0 578 से उद्धृत।

3- वही-पृ0 593 से उद्धृत।

4- द्रवैचित जाके सुनत अति आनन्द प्रधान।
सुहै मधुरता रसनुक्रम, प्रथम सरसइ आन।।

रस-रहस्य- षष्ठ वृतान्त, छन्द सं0 4

5- मधुर जोग जामैं मिलैं माधुर्य सु वह भांनि।
ट ठ ड ढ बर्न सु टारियैं अनुस्वार र न आनि।।

लखपति जससिन्धु, नवम् तरंग, छन्द संख्या 18

उदाहरण प्रस्तुत किया है वह है तो काव्यप्रकाश का परन्तु उसकी अभिव्यक्ति में पर्याप्त अंतर आ गया है। वर्णन तो नायिका के शरीर की सुन्दरता का ही हो रहा है। काव्यप्रकाश में एक नायिका के प्रति अनेक नवयुवकों का आकर्षण दिखाया गया है [1] और कुँवरकुशल ने युगानुरूप बनाकर कृष्ण की लोलुपता को अभिव्यक्त किया है -

> अंग अनंग तरंग अति सर्षी सुंदरनि संग।
> दृग अपांग के भंग दलि युवती करिहैं जंग ।। [2]

ओज :

कुँवरकुशल ने ओज की परिभाषा बड़ी ही संक्षिप्त सी दी है। जो चित्र का तेज बढ़ाता है वह ओज गुण है। [3] मम्मट चित्त की दीप्ति की स्थिति ओज गुण में बताते हैं। [4] वामन ओज गुण में अवयवों अथवा अक्षरविन्यास का परस्पर संश्लिष्टत्व की उपस्थिति समझते हैं। [5] बौद्धालंकार शास्त्रम् में भी इसी प्रकार

1- अनंगरंगप्रतिमं तदंगं भंगीभिरंगीकृत मानतांग्याः।
कुर्वन्ति यूनां सहसा यथैताः स्वान्तानि शान्तापरचिन्तनानि ।।
काव्यप्रकाश, पृ0 300

2- लखपतिजससिन्धु, नवम तरंग, छन्द सं0 23

3- तेज बढ़ावैं चित्त को, लखपति जससिन्धु, नवम तरंग, छन्द सं0 19

4- दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजोवीररसस्थिति।
काव्यप्रकाश, पृ0 193

5- गाढ़बन्धत्वमोज ।3, 1, 5
काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, पृ0 119

का आशय अभिव्यक्त किया गया है।[1] ध्वन्यालोककार भी दीप्ति की बात कहते हैं।[2] हिन्दी में सोमनाथ चित्त की दीप्ति का होना ओज गुण में मानते हैं।[3] प्रतापसाहि भी इन्हीं से सहमत प्रतीत होते हैं।[4] यदि कुलपति मिश्र और कुँवरकुशल का कथन देखते हैं तो मात्र शाब्दिक अंतर से एक ही आशय प्रकट करते हैं।[5] ओजगुण की अवस्थिति वीररस, वीभत्स रस और रौद्र रस में क्रमशः उत्तरोत्तर होती जाती है। इसमें कठोर वर्ण प्रयुक्त होते हैं। ~~णषप~~ सषाकार आदि इस गुण के अंग हैं।[6] प्रस्तुत मत जो कुँवरकुशल का है वह सभी विद्वानों के मत का ही समर्थन करता है। सभी ने इसी प्रकार की वर्णादि का प्रयोग इस ~~प्रयु~~ गुण के अंतर्गत ~~व्यवव~~ माना है। कुँवरकुशल ने ओज गुण का निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत किया है -

---

1- ओजो समासबाहुल्य। बौद्धालंकार शास्त्रम्, पृ0 122

2- रौद्रादयो रसादीप्त्या लक्ष्यन्ते काव्यवर्तिनः।
तद्व्यक्तिहेतू शब्दार्थावाश्रित्यौजो व्यवस्थितम्। ध्वन्यालोक, पृ0 450

3- बढ़ै तेज उद्धत महा जाहि सुनत ही चित्त।
ताहि कहत है ओज गुण जे कविता के मित्त।।
हिन्दी रीति-परंपरा के प्रमुख आचार्य-डॉ0 सत्यदेव चौधरी, पृ0 577 से उद्धृत।

4- महत तेज को गृहत चित उद्धत बरन प्रसिद्धि। वही, पृ0 593 से उद्धृत।

5- चितहि बढ़ावै तेज करि। रस रहस्य, छन्द सं0 5

6- सषाकारौं ट ठ ड ढ सही यहैं ओज के अंग।
रण विहीन गुरू वृत्ति रचि पावहु इहा प्रसंग।।
लखपति जससिन्धु, नवम् तरंग, छन्द सं0 20

सुभट सजोरलियैं चढ्यौ महाभनु लाखा धौंसा की धुकारनि तें धरा थहरात हैं ।
कठिन कपाट कोटि चीर कैं कुठारनि तैं कटाकटी शत्रुनि के सीस ठहरात हैं ।
छूटी रत धारैं मैं रचायौं छाग बाढ्यौं जसदंती दिगपाल देखिबे कों गहरात हैं।
ढाहत उतंग गढ कोट ढाहि ढेर कीने लछि छांडि भागे पैं विपछि भहरात हैं[1]।।

प्रसाद :

प्रसाद गुण के सम्बंध में कुँवरकुशल ने दो उक्तियाँ प्रस्तुत की है। जिसमें एक तो कुलपति मिश्र के आधार पर है[2] और दूसरी मम्मट के[3] -

रस में उज्वल नीर सौ प्राय प्रसाद प्रमांन ।
स्वच्छ अगनि के रूप सौं बरनैं कुंअर बषांन ।।
रस मैं रचना मैं सरस यौं बरननि मैं भूप ।।
अरथ सुनें तैं पाइयैं रचि प्रसाद कौ रूप ।।[4]

प्रथम दोहा तो प्रसाद गुण की महत्ता बतलाता है और द्वितीय उसका स्वरूपाधायक है। कुँवरकुशल के पूर्ववर्ती आचार्य मम्मट और चिन्तामणि ने भी

1- लखपति जससिन्धु, नवम तरंग, छन्द सं0 24

2- सब रस सब रचनानि मैं सब बरननि को भूप ।
अरथ सुनत ही पाइयें यह प्रसाद को रूप ।।
रस रहस्य, षष्ठ वृतान्त, छन्द सं0 11

3- शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छ जलवत्सहसैव यः।।
व्याप्नोत्यन्यत्प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थिति : ।। काव्यप्रकाश, पृ0 293

4- लखपति जससिन्धु, नवम तरंग, छन्द सं0 21, 22

अग्नि का दृष्टांत दिया है। परन्तु उक्त आचार्यों और कुँवरकुशल की कथन-प्रणाली में भिन्नता है। मम्मट और चिन्तामणि[1] ने सूखे इंधन द्वारा प्रज्ज्वलित अग्नि की भाँति प्रसाद गुण माना है अर्थात् सूखा इंधन जलने पर धूम्रविहीन आग निकलती है और गीले इंधन को जलाया जाये तो अग्नि स्पष्ट नहीं दीख पड़ती और धुँआ ही निकलता है। परन्तु इसी आशय को प्रकट करने के लिए सूखा इंधन न कहकर केवल स्वच्छ अग्नि ही कहा है। इससे भी तात्पर्य वही निकलता है क्योंकि स्वच्छ अग्नि भी वही होगी जिसमें धुँआ नहीं होगा और स्वच्छ अग्नि सूखे इंधन से ही प्रज्ज्वलित हो सकती है। अतः हम कह सकते हैं कि इन आचार्यों के कथन का आशय एक ही है अन्तर केवल कहने के ढंग में ही है। प्रसाद गुण के दो उदाहरण कुँवरकुशल ने प्रस्तुत किए हैं। इसका दूसरा उदाहरण बहुत सुन्दर बन पड़ा है साथ ही मौलिक भी है -

आरस सहित गात सकुचात चंदमुखी लग्यौ है तमोर मिले कौन सुखदाई है ।।
फूकि फूकि फूमि फूमि घूमि घूमि बातें करैं फूलनि की माल हियैं मैनीदुति पाई है
फपकि उघारें पल बल किये मेरी आली अरून की लाली आजु आंखिन में छाई है ।।
पोइनि के पांननि पैं सैन कियौ राति उहां प्रातभये थोरी सी लजाति इहां आई है।।[2]

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि कुँवरकुशल ने काव्य में गुणों का स्थान व महत्व निर्धारित करते हुए अ मौलिक उद्धरण देते हुए अपना कथन प्रस्तुत किया है। इसके अतिरिक्त वामन सम्मत दस गुणों का उल्लेख न करते हुए मम्मट सम्मत केवल तीन गुणों का ही उल्लेख किया है जो कि मान्यता को प्राप्त हो चुके थे। अन्य विद्वानों की भाँति परम्परा का मात्र निर्वाह करते हुए वामन सम्मत दस गुणों का खण्डन करते हुए तीन गुणों माधुर्य, ओज एवं प्रसाद के महत्व को भी निर्देशित

1- सूखे इंधन आग ज्यों स्वच्छ नीर की रीति ।
फलकै अदार-अर्थ जो प्रसाद गुन नीति ।।
हिन्दी रीति-परंपरा के प्रमुख आचार्य-डॉ० सत्यदेव चौधरी, पृ० 560

2- लखपति जससिन्धु, नवम तरंग, छन्द सं० 26

नहीं किया है। क्योंकि इससे व्यर्थ के विस्तार के अतिरिक्त अन्य कोई उपलब्धि नहीं। सभी को वामन के गुणों का ज्ञान हो चुका था। अतः पुनरावर्तन करना कुँवरकुशल को अभीष्ट न था।

काव्य-दोष- दोष हेयता :

कविता सुन्दर तथा मर्मस्पर्शी हो इसलिए यह प्रयत्न करना चाहिए कि कविता में दोष का अभाव हो। दोष होने पर अच्छी से अच्छी कविता को भी हेय दृष्टि से देखा जाता है। इसलिए सभी विद्वानों ने दोष-परिहार पर विशेष बल दिया है। दंडी का भी कथन है कि जिस प्रकार सुन्दर से सुन्दर शरीर श्वेतकुष्ठ के एक दाग से भी अपनी कमनीयता खो बैठता है उसी प्रकार काव्य कितना भी रमणीय क्यों न हो पर उसका उत्कर्ष थोड़े से दोष से भी नष्ट हो जाता है।[1] भामह ने भी कहा है कि- एक भी सदोष शब्द का प्रयोग न हो इसका सब प्रकार से ध्यान रखना चाहिए, क्योंकि दोष युक्त काव्य कुपुत्र के समान निन्दा का कारण बनता है।[2] हिन्दी में केशव भी दोष को अग्राह्य मानते हैं।[3] कुलपति मिश्र का

1- तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टंकथंचन।
000 स्याद वपु:सुन्दरमपि श्वित्रेणै केन दुर्भगम।।
काव्यालंकार, पृ0 36 से उद्धृत।

2- सर्वथा पदमप्येकं न 00 निगाद्यमवद्यवत्।
विलाक्ष्मणा हि काव्येन दु:सुतेनेव निन्द्यते।। काव्यालंकार, पृ0 6

3- राजत रंच न दोष युत कविता बनिता मित्र।
बुंदक हाला परत ज्यौं गंगाघट अपवित्र।। कविप्रिया-टीकाकार-लाला भगवानदीन, पृ0 32

विचार है कि तन और मन की दु:खता प्राणों को हर लेती है।[1] इसी परंपरा में हमारे आलोच्य कवि भी आते हैं। उन्हें भी काव्य-दोष सह्य नहीं। उन्होंने तो काव्य में दोष को साक्षात् 'अन्ध जलकूप' ही कहा है। जिस प्रकार अन्धा कुँआ कुँआ होते हुए भी लाभदायी न होकर घृणा की दृष्टि से देखा जाता है उसी प्रकार सदोष काव्य भी काव्य होते हुए भी काव्य की श्रेणी में स्थान नहीं पा सकता।[2]

वास्तव में देखा जाये तो यह अतिवादी विचारधारा है। वास्तविक जीवन में भी कोई ऐसा व्यक्ति न मिलेगा जिसमें कोई न कोई दोष न हो। सर्वगुण सम्पन्न व्यक्ति तो विरला ही हो सकता है। अत: काव्य में दोष वहीं तक क्षम्य है जहाँ तक रस प्रतीति में बाधा न हो। अन्यथा तो काव्य अविरल का विषय बन जायेगा अथवा निर्विषय।[3] भरत भी यही कहते हैं कि संसार का कोई भी पदार्थ गुण-हीन अथवा दोष-हीन नहीं है।[4] वास्तव में यह सत्य भी है। ईश्वर ने जहाँ संसार को गुणयुक्त बनाया है वहीं दोषयुक्त भी। तुलसीदास ने भी इसी प्रकार का आशय प्रकट है।[5] अत: हमारा कर्तव्य है कि हम दोषों का परित्याग करके मात्र गुणों पर रीझ कर काव्य की प्रशंसा करें। हाँ यह हो सकता है कि जहाँ पर काव्यास्वादन में किसी दोष के कारण बाधा पड़ती हो तो वहाँ दोष क्षम्य नहीं।

1- सो दूषन तन मन व्यथा ज्यों जिय को हरि लेइ। रस रहस्य, छंद सं0 3
२ दूषन तें जिय कौं दै कह्यौ अंध जलकूप - ल.ज.सिं. आ.त. छं.सं. २
3- किंचवं काव्यंप्रविरलविषयं निर्विषयं वा स्यात्, सर्वथा निर्दोष स्यैकान्तमसंभवात्। साहित्य दर्पण, पृ0 14
4- हिन्दी रीति-परंपरा के प्रमुख आचार्य-डॉ0 सत्यदेव चौधरी, पृ0 47 से उद्धृत।
5- जड़ चेतन गुन दोषमय विस्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुण पय गहहि परिहर वारि विकार। रामचरित मानस,
टीकाकार-हनुमानप्रसाद पोद्दार, पृ0 37

दोष स्वरूप :

ध्वनिपूर्ववर्ती आचार्यों ने दोष का सम्बंध गुण के साथ स्थापित किया था और ध्वनिवादी आचार्यों ने रस के साथ। भरत ने गुण दोषों से विपर्यस्त है कहा।[1] वामन ने बिल्कुल इसके विपरीत दोष को गुण के विपरीत माना है।[2] विपर्यय का अर्थ विपरीत से है। परन्तु सभी दोष गुण के विपरीत नहीं कोई-कोई अभावात्मक भी है। दण्डी ने भी विपरीत भाव की ओर संकेत किया है।[3] मम्मट ने दोष उसे कहा जिससे मुख्य अर्थ का विघात या अपकर्ष हुआ है। यह तीन प्रकार का होता है शब्द, अर्थ और रस दोष।[4] हिन्दी में आचार्य चिन्तामणि ने भी इसी धारणा को अभिव्यक्त किया है।[5] कुलपति मिश्र की मान्यता भी है कि यदि दोष रहित कविता की जाये तो वह सुखदायी होती है इसलिए उनका त्याग करना चाहिए।[6] सोमनाथ भी रसापकर्ष अथवा घातक को ही दोष मानते हैं।[7] भिखारीदास[8] और प्रतापसाहि[9] बाह्य अर्थात् वस्तुपरक भाव को प्रगट करते हैं। इसी प्रकार कुँवरकुशल भी कहते हैं कि -

---

1- हिन्दी रीति-परंपरा के प्रमुख आचार्य-डॉ0 सत्यदेव चौधरी, पृ0 476 से उद्धृत।

2- गुणविपर्ययात्मनो दोषा: ~~1, 1, 1~~ काव्यालंकार सूत्रवृत्ति, पृ0 368

3- दोषाविपत्ये तत्रगुणा:सम्पत्तये यथा। वही, पृ0 82 से उद्धृत।

4- मुख्यार्थ हतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद्वाच्य:।
उभयोपयोगिन: स्यु: शब्दाधास्तेन तेष्वपि स:।। काव्यप्रकाश, पृ0 180

5- शब्द, अर्थ, रस को जु इत देखि परै अपकर्ष।
दोष कहत है ताहि को, सुनै छूटत है हर्ष।।
हिन्दी रीति-परंपरा के प्रमुख आचार्य-डॉ0 सत्यदेव चौधरी, पृ0 ~~5090~~ 491 से उद्धृत।

6- दोषरहित कीजै कबित तब सुखदायक होइ।
तिन तजिबे को कबित के दोष कहै सब कोइ।। रसरहस्य, पंचम वृतान्त, पृ0 1

7- हिन्दी रीति-परंपरा के प्रमुख आचार्य-डॉ0 सत्यदेव चौधरी, पृ0 508 से उद्धृत।

8- दूषन करै कुरूपता भिखारीदास, (द्वितीय खण्ड) सं0 विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 5

9- सब्द अर्थ सुंदरता जो हरि लेत।
ताहि दोष करि जानो सुकवि सचेत।
हिंदी रीति-परंपरा के प्रमुख आचार्य-डॉ0 सत्यदेव चौधरी, पृ0 523 से उद्धृत।

कवित्त दोष जुत कीजीये सुषदायक नहिं सोय ।
कवित दोष बिनु कीजीयें सुखदायक सो होय ।।[1]

कुँवरकुशल की यह मान्यता शाब्दिक दृष्टि से बहुत ही सामान्य है। परंतु वस्तुत: यह काव्य के आंतरिक तत्व रस की हानि की ओर संकेत करता है। काव्य सुखदायी तभी हो सकता है जब वह रसास्वादन के योग्य होता है। आह्लादकारी काव्य ही सुखदायी हो सकता है। यह सब तब होता है जब वह दोष रहित हो। दोषयुक्त काव्य रस प्रतीति में कष्ट कर बनता है या बाधा खड़ी कर देता है अथवा तो विलम्बता का कारण बनता है। अत: हम देखते हैं कि कुँवरकुशल ने यद्यपि स्पष्टत: रसापकर्ष अथवा विघातक का उल्लेख नहीं किया है परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से उसी कथन से सहमति प्रकट करते हैं। अत: कुँवरकुशल भी ध्वनिवादी आचार्यों की मान्यता का ही अनुमोदन करते हैं। दूसरे रीतिकालीन आचार्य कुलपति मिश्र की परिभाषा अथवा धारणा से समानता लिए हुए हैं। अंतर केवल यही है कि जहाँ कुलपति मिश्र ने एक ही पंक्ति में भावात्मक रूप से अपनी बात कही है वही पर कुँवरकुशल ने उसी बात को अभावात्मक और भावात्मक दोनों रूपों में कही है।

दोष प्रकार :

मुख्यत: दोष तीन प्रकार के होते हैं शब्द दोष, अर्थ दोष और रस दोष। परन्तु उसका विस्तृत रूप पद दोष, पदांश दोष, वाक्य दोष, अर्थ दोष तथा रस दोष तक वर्णन मिलता है। जयदेव ने सात प्रकार के बताये हैं। मम्मट ने भी इन पाँचों प्रकार के दोषों का निरूपण किया है। परन्तु हमारे आलोच्य कवि ने मम्मट से प्रभावित होते हुए 5 प्रकार के स्थान पर 4 प्रकार के दोष बताये हैं -

---

1- लखपति जससिन्धु, अष्टम तरंग, छन्द-1

पद दोष, वाक्य दोष, अर्थ दोष,रस दोष । इनका यह वर्णन कुलपति के आधार पर है क्योंकि कुँवरकुशल ने जहाँ एक ओर मम्मट का सहारा लिया है वहीं दूसरी ओर कुलपति मिश्र के रस रहस्य से यथेष्ट सहायता ली है। अब हम क्रमश: दोषों की विस्तृत विवेचना करेंगे -

पद दोष :

कुँवरकुशल द्वारा जो 16 पद दोष बताये गये हैं मम्मट के ही आधार पर है। हाँ क्रम में अवश्य अंतर कर दिया है। अब हम प्रत्येक दोष का लक्षण और उदाहरण देखें -

(1) कर्णकटु :

जहाँ पर कठोर वर्ण वर्णित हुए हों, शब्द मधुर न हो और सुनते ही हित न हो वहाँ कर्णकटु दोष होता है।[1] मम्मट ने मात्र परूषवर्णता की ओर संकेत कर दिया है।[2] कुँवरकुशल ने इस दोष की परिभाषा कुलपति मिश्र के आधार पर दी है।[3] इसके दो उदाहरण दिये हैं जिनमें से एक इनका अपना दिया हुआ है और दूसरा मम्मट का लिया है। इनका अपना उदाहरण -

---

1- बरनैं बरन कठोर में सबद न मधुरो सोय ।
कर्न कटुक तासों कहो हित नसुनत ही होय ।।
लखपतिजसंसिन्धु, अष्टम तरंग, छन्द -4

2- श्रुतिकटु परूषवर्णरूपं दुष्टं ।
काव्यप्रकाश, पृ0 182

3- जिहं ठां बरन कठोर को सबद मधुर गुन होइ।
कांननि कौं कटु वाँ लगै श्रुतिकटु कहियें सोइ ।।
रसरहस्य-पंचम वृतान्त, छन्द-16

काठ कवेटो हीय करि काटत हौ घरि कूर ।
रहौ रावरे सौंह की पति पाइ है पूर ।।[1]

यहाँ पर माधुर्य गुण में कोमलावृत्ति के स्थान पर 'काठ कवेटो काटत' इत्यादि परूपावृत्ति का प्रयोग हुआ है जो कि उचित नहीं है। कानों को भी अप्रिय लगते हैं। इसलिए यहाँ पर कर्णकटु दोष है। इसी कर्णकटु को मम्मट और कुलपति ने श्रुतिकटु कहा है।

(2) संस्कारहत :

मम्मट ने इस दोष को च्युतसंस्कृति कहा है। परंतु कुँवरकुशल ने कुलपति मिश्र की भाँति इस दोष को संस्कार हत कहा है। मम्मट ने व्याकरणिक नियम के विरुद्ध प्रयोग होने पर इस दोष का होना बताया है।[2] कुँवरकुशल[3] और कुलपति मिश्र[4] ने विरुद्ध वचन बोलने में इस प्रकार के दोष का पाया जाना बताया है। बोलना अर्थात् भाषा की दृष्टि से त्रुटि बताई है। ऐसा ही भिखारीदास ने भी कहा है और इसका नामकरण 'भाषाहीन' भी इसी दृष्टि से किया है।[5] इसका उदाहरण कुलपति मिश्र का लेकर ही प्रस्तुत किया है -

---

1- लखपति जससिन्धु, अष्टम तरंग, छन्द-5

2- च्युतसंस्कृति व्याकरणलक्षणहीनम् । काव्यप्रकाश, ~~सप्तम उल्लास~~, पृ0 182

3- बचन विरूद्ध जु बोलिबो संस्कार हत संग ।
लखपति जससिन्धु, अष्टम तरंग,

4- बोलत माँह विरूद्ध जो संस्कार हत सोइ । रस रहस्य-पंचम वृतांत

5- बदलि गये घटि बढ़ि भये मतबरन बिन रीति ।
भाषा हीनन में गनै जिन्हें काव्य पर प्रीति ।।
भिखारीदास (द्वितीय खण्ड) सं0 विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 219

आजु तुम आयौ इहाँ। सकल रसिक सिरदार।
रूप चतुराई मैं रसै भलौ लाज कौ भार ।।[1]

'तुम' के साथ 'आयौ' शब्द है जो कि गलत है। 'तुम आये' होना चाहिए।

(3) अप्रयुक्त :

अप्रयुक्त दोष वहाँ होता है जहाँ पर कवि द्वारा पद को आदर न दिया जाता हो।[2] यह परिभाषा कुलपति मिश्र के आधार पर है।[3] मम्मट का विचार है कि जहाँ पर व्याकरणिक सम्मत सही शब्द होने पर भी कवियों द्वारा प्रयुक्त न किया जाता हो वहाँ पर अप्रयुक्त दोष होता है।[4] इसके दो उदाहरण दिये हैं एक मम्मट का भाषानुवाद है और दूसरा कुलपति मिश्र का।[5] कुलपति से प्रभावित उदाहरण -

मोती वै मागैं तिया पूरो जिनिसौं प्यार।
गुंजमाल गुनवंत पिय धोऊ मुक निरधार ।।[6]

1- लखपतिजससिन्धु - अष्टम तरंग, छन्द 7

2- कवि न कौय आदर करै अप्रयुक्त को अंग।
वही - अष्टम तरंग -

3- शुद्ध कबिनु नहि आदर्यौ अप्रयुक्त पद सोइ।
रसरहस्य, पंचम वृतान्त,

4- अप्रयुक्तन्तथाऽम्नातमपि कविभिर्नाहतम्। काव्यप्रकाश, पृ0 183

5- जे गाहक मुकतानिकी टेहौ तनु की देह।
गुंजमाल धोऊ पिया जो सांचो जिय नेह ।। रसरहस्य, पंचम वृतांत, छन्द-19

6- लखपति जससिन्धु, अष्टम तरंग, छन्द-9

यहाँ पर 'धोऊ' शब्द की अपेक्षा दीजै होना चाहिए । दूसरा जो मम्मट का भाषानुवाद है वह उचित नहीं, क्योंकि मम्मट ने जो उदाहरण दिया है उसमें लिंग की दृष्टि से दोष है । संस्कृत में दैवत शब्द नपुंसकलिंग में प्रयुक्त होता है पुलिंग में नहीं । अत: पुलिंग में प्रयुक्त होने पर अप्रयुक्त दोष है । परन्तु हिंदी में तो दो ही प्रकार के लिंग होते हैं -स्त्रीलिंग और पुलिंग । जब नपुंसकलिंग है ही नहीं तो फिर उसका प्रयोग किस प्रकार संभव है। अत: यह उदाहरण गलत उद्धृत किया है ।

(4) निहितार्थ :

जहाँ पर कोश बद्ध अर्थ बना हो वहाँ निहितार्थ दोष है ।[1] मम्मट ने वहाँ माना है जहाँ पर किसी पद के प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध दोनों के अर्थों के बोधन में समर्थ होने पर भी अप्रसिद्ध अर्थ में ही प्रयुक्त हो ।[2] कुँवरकुशल ने जो लक्षण दिया है वह स्पष्ट नहीं है । इससे अधूरा ही समर्थन हो पाता है । हाँ जो उदाहरण देकर बाद में जो टीका दी है उससे लक्षण स्पष्ट हो जाता है -

गया गोमती औ प्राग द्वारका
हरद्वार धीरज सौं गीरधारी हिय मैं धरत है ।
गोपनाथ वै जनाथ कोटेसर लछिमन,
पायन तें पंथकरि पाइनी पाइनि परत है ।।
पुष्कर औम केसर कासीकालिंद्री कैं,
फूल न्हाय पायु दर्शन कौं हीय मैं ठरत है ।
इतने ए तीर्थ किये है ताको फल पाय,
तउ गंगा न्हाइबे कौं हंतीये करत है ।।[3]

1- बन्धौ अरथ कै कोशबद एनिहितारथ औ, वही, अष्ट तरंग ।

2- निहतार्थं यदुभयार्थमप्रसिद्धेर्थे प्रयुक्तम् । काव्यप्रकाश, सप्तम उल्लास, पृ0 184

3- लखपति जससिन्धु, अष्टम तरंग, छन्द-10

~~जो विशेषण रूप है ऐसा न कहा है~~। यहाँ पर हंतीयें शब्द का प्रसिद्ध अर्थ हिंसा और अप्रसिद्ध अर्थ गमन करना है। कवि के अनुसार विवादित अर्थ गमन करना स्पष्टत: 'गमन' शब्द के प्रयोग होने पर आ सकता है और दोष हट सकता है। परन्तु हमारे विचार से हन्तीयें का अर्थ गमन करना शीघ्र ही स्पष्ट हो आता है जब सारा वर्णन पढ़ते हैं तब यही अर्थ उजागर होता है न कि हिंसा का अर्थ। अत: यह उदाहरण ठीक नहीं है।

(5) अश्लील :- ~~अप~~ अश्लील दोष तीन प्रकार का होता है -

(1) ग्लानि : मम्मट ने इसे जुगुप्सा नाम दिया है। इसका जो उदाहरण दिया है मूल प्रेरणा मम्मट से ही ग्रहण की ~~ह~~ गई है। थोड़े अन्तर के साथ कुलपति ने भी यही उदाहरण प्रस्तुत किया है और कुँवरकुशल ने भी क्योंकि जो अश्लील दोष का द्योतक पद तीनों में एक ही है। हाँ इसी का एक अन्य उदाहरण दिया है वह उनका मौलिक उदाहरण है -

चढ़त जबै कहुं चक्कवै सुभट घने संपादि।
बढ़त तबै भू लाज की लषी सवागज लादि ।।[1]

यहाँ पर संपादि शब्द अश्लील ~~शब्द~~ दोष से दूषित है।

(2) अमंगल :

इसका उदाहरण स्वयं कवि का अपना है -
बरषा रिति ऐसी बनी स्यामा अबहि बिनास।
मोरतु महि मन मैं मुदित रवो जु निरधरक रास ।।[2]

1- लखपति जससिन्धु, अष्टम तरंग, छन्द-12

2- वही- ,, छन्द-13

यहाँ पर `बिनास` पद अमंगल सूचक है।

(3) लज्जा :

मम्मट ने इसे व्रीड़ा कहा। इसका उदाहरण मम्मट का भाषानुवाद है। दूसरा दो उदाहरण है वह रस रहस्य के आधार पर है।

6-नेयार्थ :

जहाँ पर लक्षणा से अर्थ लक्षित हो वहाँ नेयार्थ दोष होता है।[1] परन्तु यह परिभाषा स्पष्ट नहीं, क्योंकि नेयार्थ दोष वहाँ होता है जहाँ पर अप्रचलित लाक्षणिक पद का प्रयोग हो।[2] लक्षणा तो अवश्य होती है परन्तु न तो रूढ़ि और न ही प्रयोजनवती। इसके अतिरिक्त जो निम्न होती है वही यहाँ पर प्रयुक्त होती है। कुँवरकुशल ने केवल लक्षणा कह कर छोड़ दिया है। कैसी लक्षणा हो इसकी ओर संकेत नहीं किया है। इसका उदाहरण कुलपति मिश्र के आधार पर है[3]-

जोर आपु दृग झलक नीर छिपायें मीन।
रूप जली तेरे रूचिर काम कमीना कीन।।[4]

अन्तर केवल इतना ही है जहाँ पर कुलपति मिश्र ने मुख और चन्द्रमा का उदाहरण दिया है कुँवरकुशल ने रूप और कामदेव को उद्धृत किया है। प्रथम पंक्ति तो वही है, अन्तर केवल द्वितीय पंक्ति में है।

1- लषौं लछिना तैं जहां नेयारथ तह नांम।।
लखपति जससिन्धु, अष्टम तरंग।

2- यन्तिष्विद्धम् लाक्षणिकम्। काव्यप्रकाश, पृ0 188

3- बलसौं नैननि की जल कमीन किये जललीन।
बदन कमल तेरे अली चंद कमीना कीन।। रस रहस्य, पंचम वृतांत, छन्द-36

4- लखपतिजससिन्धु, अष्टम तरंग, छन्द-16

7-निरर्थक :

प्रयुक्त पद किसी अर्थ को घोतित करनेवाला न हो।[1] मम्मट के अनुसार जहाँ पर कोई पद केवल पूर्ति के लिए प्रयोग किया जाता हो।[2] इसका जो उदाहरण दिया गया है वह कुलपति मिश्र के रस-रहस्य के पर आधारित है।[3] उसी को शाब्दिक रूपान्तर से प्रस्तुत किया गया है -

कह्यौ अली तोसौं कितो मान महँ हो मांन।
चंद उदैय तैं चतुर तिय न रहैं मांन निदांन ।।[4]

दोष निवारण करते हुए कहा है कि यदि मान अली मेरौ कह्यौ कहा जाये तो दोष हट जायेगा। यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि प्रस्तुत उदाहरण पद दोष न होकर वाक्य दोष अथवा वाक्यांश दोष है क्योंकि प्रथम पंक्ति का अर्द्धांश परिवर्तित करने पर दोष हटता है। परन्तु मम्मट द्वारा निरूपित छन्द में 'च' 'हि' आदि मात्र पद ही होते हैं। तब यह उदाहरण पददोष के अंतर्गत न आकर वाक्य दोष में आना चाहिए। क्योंकि पद दोष और वाक्यदोष दोनों अलग-अलग हैं। क्योंकि पददोष होने पर वाक्यदोष और वाक्यदोष होने पर भी पददोष नहीं भी होता है। पददोष में केवल पद को हटा दिया जाता है न कि उसे परिवर्तित करके उसके स्थान पर दूसरा प्रयुक्त करके। एक प्रकार से उन्हें निकाल भी दिया जाये तभी दोष निवारण होता है। परन्तु प्रस्तुत उदाहरण में तो वाक्यांश को बदल कर दूसरा प्रयुक्त करने की ओर संकेत किया गया है जो कि गलत है। वास्तव में तो प्रयुक्त पद की कोई सार्थकता ही नहीं होती वहाँ पर

1- प्रगट अर्थ कौं पद नहीं करैं निरर्थक कांन। ~~चली~~-ल.ज.सिं.

2- निरर्थकम् पादपूरणमात्र प्रयोजनम् चादिपदम्।
काव्यप्रकाश, ~~सप्तम उल्लास~~, छन्द-184

3- रस रहस्य, पंचम वृतान्त, छन्द-25

4- लखपतिजससिन्धु, अष्टम तरंग, छन्द-17

निरर्थक दोष होता है जो कि यहाँ पर किसी भी प्रकार से लागू नहीं हो सकता। अत: उदाहरण गलत है।

8-अनुचितार्थ :

प्रगट अर्थ अनुचित हो वहाँ अनुचितार्थ दोष होता है।[1] मम्मट ने कहा है कि अपने विवक्षित अर्थ में ही तिरस्कृत रूप से बोधित होती है।[2] कुँवरकुशल ने इसका उदाहरण मम्मट[3] के ही अनुकरण पर दिया है परन्तु उसे इतना विस्तृत न देकर संक्षिप्त ही दिया है -

पावैं ऊरध गति परम धीरज बड़ी धरंत ।।
अश्व मेघ रन सत्र मैं पशु ज्यों सूर परंत ।।[4]

दूसरा दिया गया उदाहरण कुलपति मिश्र[5] का ही अनुवाद है -

सूर करैं दल शत्रु कैं अचरिज यहै अनूप ।।
रन मग यों निहचल रहैं रूपे काठ के रूप ।।[6]

उपर्युक्त उदाहरणों में क्रमश: 'पशु' और 'काठ' शब्द शूरवीरों के लिए अनुचित होने के कारण अनुचितार्थ दोष है।

1- प्रगट कहत निज अर्थ पद अनुचितार्थ अरोषि। ~~वही~~- ल॰ज॰सिं॰
2- काव्यप्रकाश, पृ0 184
3- तपस्विभिर्या सुचिरेण लभ्यते प्रयत्नत: सत्रिभिरिष्यते च या।
प्रयान्ति तामाशुगतिं यशस्विनो रणाश्वमेधे पशुतामुपागता: ।।
वही - पृ0 184
4- लखपति जसिसिन्धु, अष्टम तरंग, छन्द- 18
5- सूर सु दुज्जन दल करैं कौतुक करैं अनूप।
रण में निहचल यों रहैं होइ ~~पाछणके~~ काठ के रूप ।।
रस रहस्य-पंचम वृतान्त, छन्द-25
6- लखपति जससिन्धु, अष्टम तरंग, छन्द-19

9-अप्रतीति :

जब पद प्रसिद्ध संकेत करता हुआ भी अप्रतीत प्रतीत होता है वहाँ अप्रतीत दोष होता है।[1] मम्मट ने कहा है अप्रतीत वह दोष है जिसे किसी पद की केवल किसी शास्त्र प्रसिद्ध (पारिभाषिक) अर्थ की बोधकता कहा करते हैं (न कि लोक प्रसिद्ध सामान्य अर्थ की)[2] कुलपति मिश्र ने भी लोक अज्ञानता को ही अप्रतीत दोष कहा है।[3] कुँवरकुशल द्वारा किया गया लक्षण अपूर्ण है। क्योंकि इसमें शास्त्र प्रसिद्ध अथवा एक क्षेत्र प्रसिद्ध होते हुए भी लोक अथवा दूसरे क्षेत्र के लिए अप्रसिद्ध होता है। प्रसिद्ध पद तो कहा है लेकिन अप्रसिद्ध कहाँ और किसके लिए होगा ऐसा स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है जैसा अन्यों ने किया है। हालाँकि उदाहरण के द्वारा अपनी बात समझाने में अवश्य सफल हुए हैं। कुँवरकुशल ने इसके दो उदाहरण किये हैं एक तो कुलपति मिश्र के आधार पर दूसरा इनका मौलिक है। इनका मौलिक उदाहरण देखिये -

चिमणी याकी बाल है गनियैं चिमणी गात।
नैननि चिमणौं वैं निरषि बलकि करति है बात ।।[4]

यहाँ पर चिमणी अर्थात् छोटा जो कि दक्षिण में ही प्रसिद्ध है अन्य स्थानों पर नहीं, अतः यह अप्रतीत दोष से युक्त है।

10-अवाचक :

यह दोष वहाँ होता है जहाँ कोई उपयुक्त अर्थ का द्योतन न करे।[5] मम्मट ने

1- पद प्रसिद्ध संकेत पैं पुनि अप्रतीत पेषि। ~~लखी~~-ल.ज.सिं.

2- अप्रतीत यत्केवले शास्त्रे प्रसिद्धम्। काव्यप्रकाश,~~सप्तम उल्लास~~,पृ0 187

3- है प्रसिद्ध संकेत ही लोक न जानैं जाहि।
सो न कबित के काम को अप्रतीत कहि ताहि। रसरहस्य,पंचम वृतांत,छन्द-30

4- लखपति जससिन्धु, अष्टम तरंग,छन्द-21

5- अवाचक सु याकों कहौं करें न पद को काम।
लखपतिजससिन्धु, अष्टम तरंग।

भी किसी पद की विशिष्ट वाचकता से रहित होना कहा है।[1] अर्थात् शब्द तो सही प्रयुक्त हुआ हो परन्तु प्रसंग से असंबंधित रहा करता है। इसका उदाहरण प्रस्तुत है -

करैं चाकरि जंतु के पूरे प्यारहि पेषि।
धरन ही तैं या धरनि मैं देह बसि भये देषि ।।[2]

यहाँ पर जन्तु शब्द मनुष्य की वाचकता के लिए कभी भी नहीं हो सकता है। अत: अवाचक दोष है।

11-अविमृष्टविधेयांश :

जहाँ पर पहले उद्देश्य वर्णित हो तत्पश्चात् विधेय आवे[3]। मम्मट ने भी यही कहा है कि विधेयांश का प्रत्यायक होते हुए भी निर्देशक न बन पाये।[4]

12-ग्रामिन :

जहाँ पर गँवार की उक्ति हो।[5] मम्मट भी पामरजनप्रसिद्ध अर्थ की वाचकता में ग्राम्य दोष मानते हैं।[6] उदाहरणत:-

जह तह बैठति गूजरी बोलति भल्ले बोल।
षावैं पीवैं षुसि रहैं बहुत गल्लनि तंबोल ।।[7]

1- काव्यप्रकाश, पृ0 185
2- लखपतिजससिन्धु, अष्टम तरंग, छन्द-22
3- पहिलैं उद्धिसहिं पछौ बहुर विधेय बताय। वही-
4- अविमृष्ट: प्राधान्येनानिर्दिष्टो विधेयांशो यत्र तद्। काव्यप्रकाश, पृ0 189
5- ग्रामिन सु याकौं गिनौं बोले वचन गंवार। लखपतिजससिन्धु
6- ग्राम्यं यत्केवलं लोकेस्थितम्। काव्यप्रकाश, पृ0 188
7- लखपतिजससिन्धु, अ.त. छन्द- 29

यहाँ पर 'भल्लें' और 'गल्लनि' शब्द ग्राम्यत्व के द्योतक हैं।

13- क्लिष्टयुत :

ऐसा गुप्त अर्थ जो गृहित हो पाता हो और क्लेश उत्पन्न हो वहाँ पर क्लिष्ट दोष है।[1] मम्मट के मतानुसार क्लिष्ट दोष वह है जिसे किसी पद का विलम्ब से, अपने अर्थ का प्रत्यायन करना कहा जाता है।[2] कुलपति मिश्र का कथन है कि जहाँ अर्थ शीघ्र न प्राप्त हो सके।[3] उदाहरणत: -

कस्यप सुत के सीस पैं उदधि सुता पति पाय।
कस्यप सुत बाहन कियैं असुरनि क्यो उड़ाय।।@ [4]

यहाँ पर प्रथम कस्यप सुत से तात्पर्य शेष नाग उदधि सुता लक्ष्मी-पति= विष्णु, द्वितीय कस्यप सुत अर्थात् गरूड़ इत्यादि का अर्थ शीघ्र ही नहीं स्पष्ट हो पाता। इसलिए यह क्लिष्ट दोष से युक्त है।

14- विरुद्धमतिकृत :

किसी पद के सुनने पर विरुद्ध अर्थ ध्यान में आ जावे।[5] कुलपति मिश्र भी ऐसा ही अभिप्राय अभिव्यक्त करते हैं।[6] इसका उदाहरण भी कुलपति के रस-रहस्य[7] के आधार पर ही है -

1- गुपत अरथ चित गहन नहिं उपजै क्लेश अपार। ल०ज०सिं०
2- क्लिष्टं यतोऽर्थप्रतिपत्तिर्व्यवहिता। काव्यप्रकाश, सप्तम उल्लास, पृ0 189
3- अर्थ बेग नहि पाइयैं जहाँ क्लेसयुत होइ। रसरहस्य, पंचम वृतान्त
4- लखपतिजसंसिन्धु, अष्टम तरंग, छन्द-29
5- कोउ पद सुनिबैं कहूं मति विरुद्ध कै मांन।
सो विरुद्धमति की सही जुगत दोष की जांन। वही, अष्टम तरंग, छन्द-30
6- उपजैं सुनति विरुद्ध मति पद विरुद्धमति सोइ। रसरहस्य, पंचम वृतांत।
7- मृत गन हारैं बन फिरैं खंजन परसत पाइ।
दृग कपूत की छबि लखैं मीन दुरे जल जाइ। वही, छन्द-42

मृग हारे बन में रहैं खंजन उड़ै बिसाँहि ।
कृग कपूत छबि देखिकै मीन छिपे जल माँहि ।।[1]

कृग कपूत अर्थात् क अर्थात पानी, उसका पुत्र कमल अर्थात् कमल रूपी नेत्रों की छबि देखकर मछली जल में छिप गई। वास्तव में यह अभीष्ट अर्थ अप्रस्तुत बन जाता है और प्रस्तुत अर्थ कुछ और । इसलिए विरुद्धमतिकृत दोष है।

15- संदेही :

जिससे मन का संशय न मिटे वहाँ संदेह दोष होता है।[2] मम्मट के अनुसार जहाँ पर निश्चय न हो सके कि दोनों में से तात्पर्यभूत अर्थ कौन सा है।[3] इसके दो उदाहरण दिये हैं एक इनका मौलिक है।[4] दूसरा है भिन्न अवश्य परन्तु प्रेरित कुलपति मिश्र[5] के उदाहरण ने ही किया है -

बरषा रितु ऐसी बनी मदित कुसम अलिमाल ।
साँचा जिय में सुख भया स्यामा ऐरति सजल ।।[6]

प्रथम उदाहरण में साहिब अपने पति के लिए है अथवा ईश्वर के लिए, दूसरे में साल अच्छे के अर्थ में प्रयुक्त है अथवा बुरे के इसमें शंका है।

सोलहवाँ दोष प्रकार असमर्थ दोष का न लक्षण ही दिया है और न ही

1- लखपतिजससिन्धु, अष्टम तरंग, छन्द-31

2- मन कौ संसय नामिटै सो दूषन संदेह ।
लखपतिजससिन्धु, अष्टम तरंग, छन्द-32

3- काव्यप्रकाश, पृ0 187

4- करियै जैसी चाकरी तैसी माँजै देत ।
प्रीति धरैं मन में परम साहिब बहैं सचेत ।।
लखपतिजससिन्धु, अष्टम तरंग, छन्द-33

5- अद्भुत बनी बसंत छबि अलि सुख पायौ बाल ।
भाँति भाँति नैननि लगी प्रीतम सूरति साल ।।
रसरहस्य, पंचम वृतान्त, छन्द-34

6- लखपतिजससिन्धु, अष्टम तरंग, छन्द-34

उदाहरण । हाँ अंत में समग्रतया जब नामोल्लेख किये गये हैं वहाँ पर असमर्थ दोष को भी गिनाया गया है । इससे यही समझा जा सकता है कि उन्हें यह दोष भी मान्य था । परन्तु वर्णन नहीं मिलता । सम्भवत: कहीं छूट गया होगा । अन्त के नामोल्लेख वर्णित दोषों के क्रमानुसार ही हुआ है । अत: अप्रयुक्त दोष के बाद चौथे स्थान पर असमर्थ दोष का वर्णन होना चाहिए था परन्तु नहीं मिलता । अत: इसे लिपिकार की भूल ही कहा जायेगा अथवा कहीं नष्ट हो गया होगा जिसके कारण लिपिकार चाहते हुए भी इस दोष का वर्णन करने में असमर्थ रहा होगा ।

वाक्य दोष :

मम्मट ने वाक्य दोषों से पहले जो पद दोष दिये हैं उन्हीं को वाक्य दोष के अंतर्गत भी वर्णित किया है । तत्पश्चात् पदैकदेशगत दोष भी उल्लिखित हुए हैं । परन्तु कुँवरकुशल ने मात्र वाक्यगत दोष ही बताये हैं और अन्य दोष प्रकारों को छोड़ दिया है । जो 'वाक्यमात्रगत-दोष' के अंतर्गत दोष है उन्हीं को 'वाक्यगत दोष' के अंतर्गत कुँवरकुशल ने बताये हैं । अब कुँवरकुशल द्वारा विवेचित वाक्य-दोषों को देखने का प्रयास करेंगे -

(1) प्रसिद्धहत :

मम्मट के अनुसार काव्य-जगत में प्रसिद्ध शब्दों का विपरीत वाक्यों में प्रयोग किये जाने पर प्रसिद्धहत दोष होता है ।[1] कुँवरकुशल ने इसका कोई लक्षण नहीं दिया है । मात्र इतना कहा है कि जहाँ प्रसिद्ध हत दोष है उसे काँटा समझना चाहिए ।[2] अर्थात् यह दोष बहुत खटकता है । इसका जो उदाहरण दिया है उससे इसका लक्षण स्पष्ट हो जाता है ।

1- काव्यप्रकाश, पृ0 227

2- है प्रसिद्धहत दोष जहं सो जानहु तहं सूल ।
लखपतिजससिन्धु, अष्टम तरंग ।

उदाहरण दिया है उससे इसका लक्षण स्पष्ट हो जाता है।

(2) प्रतिकूलवर्णन :

गुण के विरुद्ध जहाँ पर वर्णों का प्रयोग हो वहाँ प्रतिकूलवर्णन दोष होता है।[1] मम्मट ने रसाभिव्यंजक वर्ण और गुण दोनों के विपरीत वर्णन को प्रतिकूलवर्णन माना है।[2] इसके दो उदाहरण दिये हैं जिनमें से दूसरा प्रस्तुत है -

मार मार कहि वचन मुख साजि हाथ मैं सार ।।
लरत जुरत रन मैं लखौं भली सरम के मार ।।[3]

(3) समाप्तपुनरात : वर्णन पूरा हो जाने पर पुन: उसी का वर्णन हो तो समाप्त पुनरात दोष होता है।[4]

(4) प्रतितप्रकर्ष :

जहाँ पर पहले उद्धत रचना हो और उत्तरोत्तर कोमल होती जाती हो वहाँ प्रतितप्रकर्ष नामक दोष होता है।[5] मम्मट का भी यही मत है।[6] कुँवरकुशल ने इसका उदाहरण मम्मट का भाषानुवाद करके ही प्रस्तुत कर दिया है।

1- बरन बनाउ विरुद्ध गुन कहौ बनै प्रतिकूल । ~~वही~~-ल.ज.सिं.,अ.त.

2- रसानुगुणत्वं वर्णानां वक्ष्यते तद्विपरीतं प्रतिकूलवर्णम् । काव्यप्रकाश,पृ0 211

3- लखपतिजससिन्धु, अष्टम तरंग, छन्द-3

4- पूरो बर्नन प्रथम पढि बरनैं फिरि कोउ बात ।
पूरो बरनन फिरि पढ़ैं रचि समाप्त पुनरात ।। वही-छन्द-4

5- उद्धत रचनाप्रथम रचि उत्तर कोमल आँनि ।
प्रतितप्रकर्ष सु यह प्रगट जहाँ करत है जाँनि ।।
लखपतिजससिन्धु, अष्टम तरंग,छन्द-6

6- काव्यप्रकाश, ~~सप्तम उल्लास~~,पृ0 217

5-कथितपद :

पढ़ा हुआ शब्द पुन: पढ़ने को मिले ।[1] मम्मट के मतानुसार बिना किसी प्रयोजन के ही समानार्थक अथवा एक समान वर्णों की पुनरावृत्ति ही कथितपद दोष है ।[2] इसका उदाहरण इनका अपना है -

रमबै की लीला काजि से ज फूल की रचाइं,
उमग अपार चली आवैं गजचाल सौं ।
कोक कारिका कहानी पढ़ी कैं पहेली पाठ,
बलकि करत बात व्यंग्य संगि बाल सौं ।।
घूघरू बजावें नीकी संगीती गति लावैं,
मुरज दिपावैं सरसावैं गान ताल सौं ।
सरद्सु पून्यौं राति उमदाति अं-अं,
ऐसी लीला कियैं गोपी खेलैं नंदलाल सौं ।।[3]

यहाँपर लीला शब्द दो बार प्रयुक्त हुआ है इसलिए कथितपद दोष है ।

(6) क्रमभंग :

जहाँ पर क्रमपूर्वक वर्णन न हो । उसी का वर्णन करके छोड़कर पुन: उसी का वर्णन किया जाये ।[4] मम्मट ने भग्नक्रमता कहा है । वाक्य में शब्दार्थानुसार

1- पढ़्यौ शबद तेऊ फिरि पावैं कथित सुपद ए दोष कहावैं ।
लखपतिजससिन्धु, अष्टम तरंग

2- काव्यप्रकाश,~~सप्तम उल्लास~~, पृ0 217

3- लखपतिजससिन्धु, अष्टम तरंग, छन्द-8

4- क्रम सौं बरनन करत नहिं भये जु वे क्रमभंग ।
गहि छोड़ैं फिरि कैं गहैं ए भी द्वैविधि के अंग ।।
वही-छन्द-9

उपक्रम हो तो उसी के अनुसार उपसंहार होना चाहिए अन्यथा भग्नक्रमता का दोष आ जाता है।[1] कुँवरकुशल ने कुलपति मिश्र[2] के आधार पर ही इस दोष का उदाहरण दिया है -

कंठ की माल बनी बिछिया,
छबि बेसर मोति सो चित्त चुरायौ।[3]

यहाँ पर माला के बाद पैर की बिछिया का वर्णन किया है तत्पश्चात् पुन: नाक की बेसर का वर्णन है। अत: यह उदाहरण क्रमभंग नामक दोष से सम्पृक्त है।

(7) अक्रम :

कुँवरकुशल ने इसका लक्षण नहीं दिया है। इसका उदाहरण भी कुलपति मिश्र[4] के आधार पर ही है -

लै जाये आप वाहि ल्याइयै मनाय इहाँ आपकौं न मानै जबै संदेशो पठाइये।[5]

पहले संदेश भेजा जाता है तत्पश्चात् स्वयं जाया जाता है परन्तु यहाँ पर विपरीत वर्णन है।

1- काव्यप्रकाश, सप्तम उल्लास, पृ0 228

2- कंठसिरी छबि औ बिछुवा पुनि बेसरि को मुकताबनि आयौ।
रसरहस्य, पंचम वृतान्त, छन्द-63

3- लखपति जससिन्धु, अष्टम तरंग, छन्द-10

4- पहिलै तो आप जाइ मिलि बस कीजियै जु मिलैं हू न मानि है तौ संदेशो पठाइबो।
रस रहस्य, पंचम वृतान्त, छन्द-63

5- लखपतिजससिन्धु, अष्टम तरंग, छन्द-11

8-अस्थानस्थ :

जिसे पहले कहना हो उसे बाद में कहा जाये ।[1] मम्मट का भी विचार है कि किसी पद के अपने उचित स्थान के अतिरिक्त अन्यत्र प्रयुक्त किये जाने को अस्थानस्थपदता कहते हैं ।[2] इस दोष का उदाहरण भी कुलपति मिश्र के आधार पर ही प्रस्तुत किया है ।

9- अभवनमत :

जिसका वर्णन किया गया हो उसका पूर्ण प्रकाश न होता हो ।[3] मम्मट के अनुसार जहाँ पर किसी वाक्य में पदार्थों के परस्पर अभीष्ट सम्बन्ध न हो ।[4] कुलपति मिश्र भी सम्बंध निर्वाह का न होना इस दोष का लक्षण मानते हैं ।[5] इसका भी कुलपति मिश्र[6] के ही आधार पर है -

लागत गिनत न लाज जकों परम प्रीति जे पाय ।
अनमिष दिन निशि ते अबैं लषियत रहे लजाय ।।[7]

अनमिष दृग आना चाहिए तब दोष नहीं रह पायेगा ।

1- पहिलें कहिबो जे प्रगट पीछें ते परठाउ ।
बरनन या विधि कों बन्यों अस्थानस्थ उपाउ ।। ~~वही~~ ल.ज.सिं.अ.त. - छन्द-12

2- काव्यप्रकाश, ~~सप्तम उल्लास~~, पृ0 224

3- कहिबौं जिनि के नाउ कों आनत नहीं उजास ।
सम्बंधिनी के सोधि जैं अभवनमत आभास ।लखपतिजससिन्धु, अष्टम तरंग, ~~पृष्ठ~~0 14

4- काव्यप्रकाश, ~~सप्तम उल्लास~~, पृ0 219

5- अरथु कवि कैहू दै को अहार कहँ न नाहिं ।
जहं संबंध निरवाह नहि अभवनमत सो चाहि ।।रसरहस्य, पंचम वृतांत, छन्द-56

6- जिन के कारन मन दियौ प्रीतम के संग लाइ ।
ते निसिदिन अनमिष रहैं ते अब रहे लजाइ । वही, छन्द-59

7- लखपतिजससिन्धु, अष्टम तरंग, छन्द-15

(10) मात्रावृतहत :

जिसमें अधिक मात्राओं का उपयोग किया गया हो।[1] मम्मट ने इसके तीन प्रकार बताये हैं - वृतलक्षण के अनुसार ठीक होने पर भी अश्रव्य, अन्त में गुरू लघु का अभाव, रस के प्रतिकूल।[2] कुँवरकुशल ने केवल इसका एक ही प्रकार वर्णित किया है शेष दो को छोड़ दिया है। परन्तु इन्होंने इसका उदाहरण देने के बाद जो टीका लिखी है उसमें अश्रव्य नामक दोष बताया है। ऐसे ही जहाँ अधिक ज्यादा हो वहाँ पर भी मात्रावृत दोष कहना चाहिए ऐसा संकेत किया है। इसका उदाहरण -

नैकहूं मन में धरत नहिं और बात कौ अंग।
आठौं न जाम यहैं तिया रचन पीय सौं रंग।।[3]

यहाँ पर नैकहूं गुरु न होकर लघु होना चाहिए। यह गुरू अश्रव्य प्रतीत होता है।

(11) न्यून पद :

किसी से न कहना न्यून पद दोष कहलाता है।[4] मम्मट का मत है कि अभिप्रेत अर्थ के वाचक किसी पद का प्रयोग न होना ही न्यून पद दोष है।[5] कुलपति भी कहते हैं कि जिसके बिना अर्थ न निकलता हो और उचित प्रयोग न हो।[6] इनको देखते

1- अधिक मात्रा जामहि आनौं। मात्रावृतहत सुवखानौं। ~~कल्लोल~~ ज.सि.अ.ते.

2- काव्यप्रकाश, ~~सप्तम उल्लास~~, पृ0 214

3- लखपतिजससिन्धु, अष्टम तरंग, छन्द-16

4- काहू सौं कहिबौ नहीं निरषि न्यून पदनाम। वही-

5- काव्यप्रकाश, ~~सप्तम उल्लास~~, पृ0 216

6- जा बिन अर्थ बनै नहीं सो पद जहां न होइ।
पद समूह व्यापार युत कहैं न्यूनपद सोइ।।
रसरहस्य, पंचम वृतान्त, छन्द-43

हुए कह सकते हैं कि कुँवरकुशल का लक्षण अस्पष्ट है।

(12) अधिक पद :

जहाँ पर बिना कहे भी कुछ न बिगड़ता हो।[1] अधिकपदता का अभिप्राय है किसी ऐसे पद का होना जो अविवक्षितार्थ हो।[2] इसका उदाहरण -

'कंचन सो गोरो तन फणा से चपल चरन
ससि के सरूप मुख देखति ही रहियैं।[3]

यहाँ पर गोरो और चपल शब्दों का निरर्थक प्रयोग है।

(13) वृत हत :

मम्मट ने इस वृत हत के अंतर्गत ही मात्रावृत इत्यादि का वर्णन किया है। लेकिन कुँवरकुशल ने कुलपति मिश्र के आधार पर मात्रावृत हत और वृतहत को अलग-अलग कर दिया है। वास्तव में यह एक ही है। इस वृतहत के पुन: दो भेद असुन्दर वृत और रसविरुद्ध वृत बताये हैं।

असुन्दर वृत :

लक्षण तो शुद्ध हो पर वर्ण असुन्दर हों।[4] कुलपति मिश्र भी इसी प्रकार का अभिप्राय अभिव्यक्त करते हैं।[5] इसका उदाहरण इनका अपना है -

---

1- बिना कहे बिगरै नहीं कह्यौ अधिक पद काम। लखपतिजससिन्धु

2- काव्यप्रकाश, ~~सप्तम उल्लास~~, पृ0 216

3- लखपतिजससिन्धु, अष्टम तरंग, छन्द-19

4- लछिन शुद्ध लछ्यौ परै बरन असुंदर बोलि। वही-छन्द-20

5- लक्षन मत है शुद्ध अरु सुनत अरुचि जह होइ।
रसरहस्य, पंचम वृतान्त, छन्द-49

पंक्ति रथहि के पुत्र लषि राक्षस अदा सुरक्त ।
तष्त तिक्त रावन उठ्यौं भये बिभीषान भक्त ।। [1]

रसविरुद्ध वृत :

एस रस में दूसरे रस का वर्णन आ जाये । उदाहरणत: रौद्र रस में शांत रस में विरुद्ध ही कहा जायेगा । [2] उदाहरणत: -

तनय तजि सदन तजि दार सौं प्यार जीत ।
भुवहिं तजि भुवन जंजारत हियें ।
बन बन में बैठि कैं ध्यान लय पैठिकैं
भव्य उमा पाय कौं नांउ भजियें ।। [3]

यहाँ पर रौद्रादिक व्यंजन कुँवरकुशल ने टीका में बताये हैं । परन्तु ऐसा कोई उद्धत वर्ण नहीं है फिर कैसे इसे शांत रस के विरुद्ध मान लिया जाये?

इन समस्त दोषों को देखते हुए कह सकते हैं कि कुँवरकुशल ने मम्मट दारा निरूपित सभी दोष नहीं लिए हैं । किन्हीं दोषों जैसे उपहतविसर्गत्व, लुप्तविसर्गत्व, विसन्धित्व, अर्थान्तरैकवाचकत्व, अनभिहितवाच्यत्व, संकीर्णता, गर्भितत्व, अमतपरार्थता इत्यादि का सर्वथा परित्याग कर दिया है । सम्भवत: ये दोष इन्हें मान्य नहीं थे । अन्यथा जहाँ अन्य स्थानों पर अनुकरण मिलता है, यहाँ भी मिलता। परन्तु ऐसा नहीं है । अत: अपनी स्वतंत्र विचार शक्ति का भी समुचित उपयोग कुँवरकुशल

1- लखपतिजससिन्धु, अष्टम तरंग, छन्द-21

2- एक रस कौ अरू में आवै वृत अचूक ।
रौद्र रस सुरस सांत में रस विरुद्ध कौ रूप ।। वही, छन्द-22

3- वही- छन्द-23

ने ग्रन्थ निर्माण में किया है।

अर्थ दोष :

1-अपुष्ट : - जहाँ पर बिना हेतु के होता है वहाँपर अपुष्ट दोष होता है।[1] मम्मट ने कहा है कि अर्थ प्रतिपन्न होने पर पुन: प्रतिपादन हो।[2] उदाहरण -

कंत सहेली सौं कहै मंद नैकु मुसिक्याय।
बिधिप्यारी की नीबड़ी रूपनि धान रचाय।।[3]

यहाँ पर मंद व्यर्थ है क्योंकि मुस्कराने में ही मंदता का भाव आ जाता है। पुन: टीका में यह भी कहा गया है कि रूपनिधान के स्थान पर रंगनिधान होना चाहिए। मंद में तो दोष समझ में आ जाता है परन्तु रूपनिधान में दोष है यह समझ में नहीं आता।

2-कष्टारथ :

जहाँ पर कठिनता से अर्थ प्राप्ति होती हो।[4] मम्मट ने कष्टार्थ का अर्थ दुरूहता माना है।[5] कुलपति मिश्र की परिभाषा भी इसी प्रकार है परन्तु थोड़ा और जोड़कर कहा है।[6] इसका उदाहरण कुलपति मिश्र[7] के आधार पर दिया है -

---

1- हेतु बिना ही होत है ए अपुष्ट अरेष। लखपतिजससिन्धु -

2- काव्यप्रकाश, सप्तम उल्लास, पृ0 234

3- लखपतिजससिन्धु, अष्टम तरंग, छन्द-1

4- कठिन अरथ पावै कहूं कष्टारथ कौं लेषि। वही-

5- काव्यप्रकाश, सप्तम उल्लास, पृ0 235

6- अरथ कहत समरथ सबद रचना तैसी होइ।
तऊ कठिन सौं पाइयै कष्टारथ है सोइ।। रस-रहस्य, पंचम वृतान्त, छन्द-68

7- वही- देखिए छन्द-69

मन में उदास ऊंचे सासनि भरत भारी
तुमरे बिरह कान्ह छ्ली गोप लली है।[1]

~~ऐसे विशेष्य रूप से कहें~~। इसका निवारण इस प्रकार बताया है कि बिरह का छ्ल सम्भव नहीं तब आरोप करके विरही छ्ल कीजै हो तो दोष हट जायेगा। यहाँपर 'विरह छ्ल छ्ली' कहना चाहिए। परन्तु हमारे विचार से यहाँ पर किसी प्रकार का दोष नहीं है। अर्थ सहज ही ~~प्रष्फु~~ प्रस्फुटित हो उठता है।

3-प्रसिद्ध विद्या विरुद्ध :

इसके दो प्रकार कुँवरकुशल ने बताये हैं एक कवि सम्प्रदाय विरुद्ध दूसरा शास्त्र विरुद्ध। मम्मट ने अलग-अलग बताये हैं कवि अथवा लोकविरुद्ध और दूसरा विद्या विरुद्ध।[2] इसमें प्रसिद्धि के विरुद्ध अर्थ का उपनिबन्धन किया जाता है।[3] जहाँ पर कवि और शास्त्र आदर न करें वहाँ विरुद्धत्व का दोष होता है।[4] इसका उदाहरण दिया है उसमें वर्णित दोष मम्मट द्वारा बताया गया दोष ही है।[5] जैसे -

सांझ समैं सुनि हे सखी आँगुन ए तौ आहि।
मैंन महीपति मांन पै। चक्र चलावत चाहि।।[6]

लोक में विष्णु का चक्र प्रसिद्ध है न कि कामदेव का। अत: कवि सम्प्रदाय विरुद्ध दोष है।

1- लखपतिजससिन्धु, अष्टम तरंग, छन्द-2

2- ~~देखिए~~-काव्यप्रकाश ~~सप्तम उल्लास~~, पृ0 238 से 240

3- वही- पृ0 238

4- कविशास्त्र न आदर करै सो विरुद्ध समझाय।।
लखपतिजससिन्धु, अष्टम तरंग, छन्द-3

5- काव्यप्रकाश, ~~छन्द 264~~ पृ0 238

6- लखपतिजससिन्धु, छन्द-4

शास्त्रलोक अरु काम विरुद्ध :- इसका उदाहरण मौलिक है -

अवनी बिची एक नृप ओपैं, कहूं काल मन ही मैं कोपैं ।
षाड गुन तीनि सकतिबिनु षासी, शत्रु सेनभुज वरकी दासी ।। [1]

शास्त्र में षाडगुन और तीन शक्तियों के बिना जीतना असम्भव है । यहाँ विपरीत वर्णन है ।

4-लोकविरुद्ध :

मम्मट ने लोकविरुद्ध और कवि विरुद्ध के बीच अथवा ●●● ●●●●0 में शब्द का प्रयोग किया है परन्तु कुँवरकुशल ने अलग-अलग शीर्षक डालकर वर्णन किया है । इसका निम्नलिखित उदाहरण है -

सकल सेन सिंगार साजि गज गामिनी ।।
चाहि चन्द्रिका मांझि चलि कौं कामिनी ।।
आंध मग विधु अस्तभइ है बाउरी ।।
पहुचाइ पिय गेह किति सिव राउसी ।। [2]

लोक में चन्द्रिका को मूतिमान और कीर्ति को अमूर्त माना गया है । परन्तु यहाँ पर अमूर्त को मूर्त बनाकर लोकविरुद्ध बताया गया है ।

5-दुक्रम :

जिस वर्णन का क्रम न हो वहाँ दुक्रम दोष होता है । [3] मम्मट ने अनुचित

1- लखपतिजससिन्धु, छन्द-9

2- वही- छन्द-10

3- क्रमनु नहीं जामैं कहै दुक्रम जे बन देत । लखपतिजससिन्धु -

अर्थक्रम को दुष्क्रम माना है ।[1] कुलपति मिश्र ने भी लोक और वेद के अनुसार जहाँ अनुचित क्रम का ~~क~~ वर्णन हो माना है ।[2] उदाहरणतः -

गांव न रीभत ताहि परगान की करिहौ।[3]

पहले गाँव कहा बाद में परगना अतः दुःक्रम है ।

6- <u>निर्हेतु :</u>

जिसके वर्णन में कोई हेतु न हो ।[4] मम्मट के अनुसार जहाँ पर बिना किसी हेतु के ही विवक्षितार्थ का उपादान किया जाये ।[5]

7- <u>संदेही :</u>

जहाँ पर सुनने से संदेह हो और मन में कोई निश्चित विचार न हो ।[6] मम्मट के अनुसार प्रकरणादि के अभाव में दो अर्थों में संदेह हो ।[7] कुलपति ने सुन्दर लक्षण किया है ।[8] कुलपति द्वारा दिया गया उदाहरण -

---

1- काव्यप्रकाश, ~~सप्तम उल्लास~~, पृ0 237

2- ~~[illegible]~~ अनुचित क्रम जहाँ बरनियें लोक वेद प्रमानि ।
अर्थ दोष में जानि कै दुःक्रम ताहि बखानि ।। रसरहस्य, पंचम वृतांत, छं0 74

3- लखपतिजससिन्धु, अष्टम तरंग, छन्द-13

4- जामहिं हेतु न जानियें निरषाहु वे निरहेत । वही-

5- काव्यप्रकाश, ~~सप्तम उल्लास~~, पृ0 238

6- सुनत लगें संदेह सो औ विचार मन भीन । लखपतिजससिन्धु -

7- काव्यप्रकाश, ~~सप्तम उल्लास~~, पृ0 238

8- जहाँ और के ज्ञान बिनु रहै अरथ संदेह ।
चित नियम नहि करि सकै सुहै दोष संदेह ।
रसरहस्य, पंचम वृतान्त, छन्द-79

गुन धरै दूरि करै पछि लगैं क्यों जामैं
सुघर सराहै ओो बिदित बनाउ है।
कानि मिलैं की रीति कौं कहत धुनावैं सीस
सुधे तुक सौंहै फल दैबे कों उपाउ है।।[1]

यहाँ पर कविता के सम्बंध में कहा गया है अथवा बाण के सम्बंध में यह निश्चित नहीं हो पा रहा है।

8- ग्रामीण :

गँवार की बचनोक्ति ही ग्रामीण दोष कहलाती है।[2]

'नींब नीचे पंचभाइ' मिलि कै मनावैं उटा
गोबरस गादि सौं लिपावै दरसाउ है।
जेठ की चलत लूवैं करैं टाटी जवासे की।
कोरे घरा मांह भरि पाँनि छीरकाउ है।।[3]

ग्रामीण की उक्ति होने से ग्रामीण दोष से युक्त है।

9-अन्वीकृत :

एक ही रूप में बहुत अर्थों का सृजन किया जाये तथा नयी प्रणाली का वर्णन न हो।[4] यह लक्षण कुलपति मिश्र के आधार पर किया गया है।[5]भिखारीदास

1- लखपतिजससिन्धु, अष्टम तरंग, छन्द-18

2- गंवरिये की बचनगति गिनो दोष ग्रामीन। लखपतिजससिन्धु -

3- वही- अष्टम तरंग, छन्द-19

4- रूप एक ही में रचै बहुत अरथ कवि लोइ।
नइ रीति आवै नही सुघ अन्वीकृत सोइ।।वही छन्द-20

5- एक रूप ही अर्थ बहु जबै कहै कबि लोइ।
नयौ रूप लखियै नही सो अनवीकृत होइ।।
रस-रहस्य, पंचम वृतान्त, छन्द-86

ने कहा है जहाँ कोई वाक्य नये अर्थ को न धारण करे ।[1] इसका उदाहरण भी कुलपति मिश्र[2] के आधार पर ही प्रस्तुत किया गया है -

रूपनिधान भये तौ कहा रु कहा भयौं जो सचि साहनि मान्यौं ।।
पूत अनेक भये तौ कहारु कहा भयौं जो सिगरे जग जान्यौं ।।
थोरे गांव भये तो कहा रु कहा भयौं जो रिपु कौं घर तान्यौं ।।
केतक चौंस जिये तो कहारु कहा भयौं जो ह्यितेह नहिं आन्यौं ।।[3]

10-अव्याहत :

पहले तो निरादर किया जाये तत्पश्चात् पुन: उसका महत्व प्रदर्शित किया जाये ।[4] जयदेव ने कहा कि यदि पूर्व और अपर अर्थों में परस्पर विरोध हो ।[5] भिखारीदास ने कहा कि सावधानी न रखने के कारण जहाँ एक ही उक्ति से सत्य तथा असत्य दोनों ही बातें एक साथ कही जाय वहाँ व्याहत दोष होता है ।[6] सभी विद्वानों ने तो 'व्याहत' लिखा है और इन्होंने और कुलपति मिश्र ने अव्याहत जो उचित नहीं है । उदाहरणत: -

कमल सरस तउ निरषि कैं । नैंन न चाहैं नेम ।
धरसैं तो मुख कमल दुति । पावै पूरो प्रेम ।।[7]

1- जो न नये अर्थहि धरै, अनविकृत सुविसेखि ।।
भिखारीदास ग्रंथावली (द्वितीय खण्ड) सं0 विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 233
2- रसरहस्य, पंचम वृतान्त, छन्द-87
3- लखपतिजससिन्धु, अष्टम तरंग, छन्द-21
4- देत निरादर जिनि कौं देष्यौ बहुरि तिनैं उपमान विशेष्यौं ।। वही-
5- व्याहतश्चेद्विरोध:स्यान्मिथ: पूर्वापरार्थयो: ।। चन्द्रालोक, पृ0 55
6- सतअसतहु एकै कहै, व्याहत सुधि बिसराइ ।।
भिखारीदास (द्वितीय खण्ड) सं0 विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 232
7- लखपतिजससिन्धु, अष्टम तरंग, छन्द-22

यहाँ पर पहले कमल देखने लायक न कहा परन्तु पुन: कमल ही को मुख का उपमान बनाया। अत: व्याहत दोष है।

11-चाह्युत :

जहाँ पर अर्थ की चाहना शेष हो वहाँ पर चाह्युत दोष होता है।[1] मम्मटादि ने इसे साकांक्षत्व दोष कहा। कुँवरकुशल ने यह नामकरण कुलपति के आधार पर किया है।[2] कुलपति ने आगे यह लिख भी दिया है कि इसे ही साकांक्षा भी कहते हैं। परन्तु कुँवरकुशल ने उदाहरण की टीका में 'साकांक्षा' शब्द का प्रयोग किया है। उदाहरण भी कुलपति[3] के आधार पर है -

बरही बोलै घन बन्यौ मान्यौ कोकिल मौन।
समरथ मौ सावन समर भुव कैसैं तजि मौन ।।[4]

12, 13-विशेष में अविशेष परिवृत :

इनके लक्षण नहीं दिये हैं। परन्तु उदाहरण अन्य विद्वानों के लक्षणानुसार उचित ही प्रस्तुत किए हैं।

14, 15-नियम और अनियम परिवृत :

इनके भी लक्षण नहीं दिये हैं। अनियम में नियम का उदाहरण कुलपति मिश्र

1- करैं अरथ की चाह कछु दोष चाह्युत देषि। ल॰ज॰सि॰

2- कछुक अरथ की चाह जह रहै चाह जुत सोइ। रसरहस्य-

3- देखिए-रस-रहस्य, पंचम वृतान्त, छन्द-89

4- लखपतिजससिन्धु, अष्टम तरंग, छन्द-23

के आधार पर है। नियम में अनियम का भी उदाहरण उन्हीं के आधार पर है।

16-सहचरभिन्नत्व :

इसका लक्षण नहीं दिया। उदाहरण थोड़ा मम्मट से[1] तथा थोड़ा अपना मिलाकर प्रस्तुत किया है -

श्रुतनि सौं बुधि और व्यसन सौं मूरखता पानी ही सौं नही श्रोत सबहीं बहत हैं।
न्याय करि राजा राजै गनिका सरूप तासों राति चंद ही सौं कुंअरेस जू कहत हैं।
धीरज समाधि सोंहै स्यामानी के कंत भयें लाज भरे लोचननि सोभा कौं लहत हैं।
आदर सौं गुनी फनी विष तैं सवायौं होत बेद जुग जग्य जब जेंगनि बीन बहत हैं।।[2]

श्रुति आदि उच्च तत्वों के साथ गणिकादि निम्न स्तरीय वर्णन सहचरभिन्नत्व को प्रकट करता है।

17-पदयुक्त :

इसका भी लक्षण नहीं दिया है।

18- प्रकाशित विरुद्ध :

19 त्यक्त पुन: स्वीकृत के भी लक्षण नहीं दिये हैं।

20-शब्द-विरोधी :- जहाँ पर शाब्दिक विरोध हो।[3]

1- श्रुतेन बुद्धिर्व्यसनेन मूर्खतामदेन नारी सलिलेन निम्नगा।।
निशा शशांकेनधृति: समाधिना नयेन चालंक्रियते नरेन्द्राता।।
काव्यप्रकाश, ~~सप्तम उल्लास~~, पृ0 245

2- लखपतिजससिन्धु, अष्टम तरंग, छन्द-30

3- शब्दविरोध धरैं सही शब्द विरोधी सोय।। वही-

21- पंथ विरोधी :

जहाँ पर कवि पंथ के विरुद्ध वर्णन हो।[1] उदाहरणत: -

पीपल पान से चंचल नैनि बंदर चंचलताइ छिपावैं।
दांत से ऊजरे ओठ बने अति माषन ही सों मिठासु दिखावै।
पंकज से कुच फूलि रहे पति चंद सों देषत ही सुख पावैं।
अभी अवास मैं भामिनि एक चलैं गति दामिनि कौं बिसरावैं।।[2]

यहाँ पर अंगों का वर्णन विरोध को बताने वाला है। इस उदाहरण के निर्माण में बहुत कुछ सहायता केशवदास द्वारा प्रस्तुत इसी दोष के उदाहरण से सहायता ली गई है। देखिए-

कोमल कंज से फूलि रहे कुच देखत ही पति चंद बिमोहैं।
बानर से चल चारु बिलोचन कोये रचे रुचि रोचनको हैं।
माखन सों मधुरो अधरामृत केशव को उपमा कहुँ टोहैं।
ठाढ़ी हैं कामिनी दामिनी सी मृगभामिनी सी गजगामिनि सोहैं।।[3]

22-अर्थहीन मुक्तक : इसका केवल उदाहरण दिया है।

23-यतिभंग :

दियौ राम कौं तात यहैं दथ, रथ तासौं ह्वै रंग।
सोहत ते अवनी मैं सीता, पति सौं करैं प्रसंग।।[4]

यहाँ पर दशरथ और सीतापति अलग-अलग चरण में आये हैं इसलिए यतिभंग दोष है।

1- पंथनकविताइ प्रगट गिन्यौ अंध नहिं गोये। वही-ल.ज.सिं., अ.त.

2- वही- छन्द-34

3- प्रियाप्रकाश टीकाकार-लाला भगवानदीन, पृ0 33-34

4- ल.ज.सिं., अ.त., छं.सं. 36

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि अर्थ दोष विवेचन में जहाँ एक ओर कुँवरकुशल ने मम्मट के काव्य प्रकाश को आधार बनाया है वहीं दूसरी ओर ~~किन्हीं~~ किन्हीं स्थलों पर केशवदास की कविप्रिया में वर्णित दोष भी मार्गदर्शन बने हैं।

दोष समाधान :

दोष समाधान के सम्बंध में अपना कोई सामान्य विचार प्रस्तुत न करके सीधे वर्णन शुरू कर दिया है। उदाहरणतः

कंठी गर कमनीय कटि हियें हार दुति होय।
कर में कंकनधुनि करें शुभ कटिरना सोय ।।[1]

यहाँ पर गहने के साथ आंगिक वर्णन पहनने के लिए प्रयुक्त किया गया है।

सनमुष आये समर में बल छल बहुत बढ़ाय।
धनु प्रत्यंचा हाथ धरि अरि गनक्यें उड़ाय ।।[2]

यहाँ पर धनुष और प्रत्यंचा प्रयुक्त शब्द पुनरावर्तित हो रहे हैं परन्तु चढ़ाये धनुष की प्रतीति कराने के लिए दोनों का संयुक्त प्रयोग सार्थक है।

निर्हेतु की अदोषता :

मम्मट के अनुसार जहाँ पर प्रसिद्ध वस्तु हुआ करती है वहाँ यह दोष नहीं रहता।[3] कुँवरकुशल ने इसका लक्षण नहीं दिया है। परन्तु जो उदाहरण दिया है मम्मट के उदाहरण का पूर्वांश ही है, उत्तरांश को छोड़ दिया है[4]

1- लखपति जससिन्धु, अष्टम तरंग, छन्द-37

2- वही - छन्द-39

3- ख्यातेऽर्थे निर्हेतोरदुष्टता। काव्यप्रकाश, ~~सप्तम उल्लास~~, पृ0 250

4- वही - छन्द-294

ससि में जम सोभासरस कमल भोग नहीं कोय ।
बहु सोभा कमलनि बढ़ी ससि नहीं सोभित सोय ।।[1]

कमल और चन्द्रमा एक साथ कभी भी शोभा नहीं पा सकते, यह लोक प्रसिद्ध है। अतः यहाँ पर दोष नहीं है। अन्य की उक्ति में श्रुतिकटु दोष की गुणरूपता -

श्रेष्ट दृष्टि कैं पुष्ट हुअ अहो भट्टहु कृष्ट ।
शब्द अध्व में घृष्ट हो हृष्ट चंडिका तुष्ट ।।[2]

यहाँ पर अन्य व्यक्ति की उक्ति एक ब्राह्मण के प्रति है। अतः यहाँ कर्णकटु वर्णों का प्रयोग होते हुए भी दोष नहीं। कुँवरकुशल रौद्ररस में श्रुतिकटु की गुणरूपता, वाच्यानुरूप कष्टत्व की गुणरूपता, प्रकरणानुरूप कष्टत्व की गुणरूपता के वही उदाहरण दिये हैं जो कि मम्मट ने दिये हैं। अश्लीलत्व सुरत कथा ज्ञान कथा अथवा किसी क्रोधी की उक्ति में आये तो वहाँ वह दोष न रह कर गुण बन जाया करता है। क्रोधी की उक्ति का उदाहरण -

ब्रज में बसि मति बाउरे या पुर की यह चाल ।
नैन बान तैं नर मरत होत बिकल बेहाल ।।[3]

यहाँ पर मरण शब्द अमंगल का द्योतक नहीं। संदिग्ध, अप्रतीति, ग्रामत्व, न्यूनपद, अधिक पद, कथित पद, इत्यादि दोषों की भी गुणरूपता सिद्ध की है।

1- लखपतिजससिन्धु, अष्टम तरंग, छन्द-41

2- वही- छन्द-43

3- वही- छन्द-50

रस दोष :

व्यभिचारी भावों की स्वशब्दवाच्यता :-इसका उदाहरण मम्मट[1] के आधार पर है -

आनन मैं अति ब्रीड़ा भई करूना गज चाँमि निहारि मरी ।
साँप तैं त्रास औं बिस्मय चंद्र तैं इर्षा गंग जटानि घरी ।।
दीन कपाल माल करैं दृग भाल कपाल उताल डरी ।
पा० पारवती नव संगम में शिव दैं तैं असीयैं दृष्टि करी ।।[2]

यहाँ पर ब्रीड़ा, करुणा, त्रास, विस्मय, दीनता इत्यादि व्यभिचारी भावों की प्रयुक्तता दोष है।

रस की वाच्यता :

सब मंगल की है सिरी भुज उच किये सुभाय ।
लखि ललना द्रग लाल कै रस उपज्यों सरसाय ।।[3]

यहाँ रस शब्द स्वयं आ गया है यह दोष है। श्रृंगार शब्द की वाच्यता का उदाहरण कुलपति के आधार पर है। विभाव अनुभाव की कष्टकर प्रतीति के उदाहरण भी कुलपति के ही आधार पर प्रस्तुत किए हैं। हाँ स्थायी भाव की स्वशब्दवाच्यता का अपना उदाहरण दिया है -

जबर जुरे जब जुद्ध में प्रगटे षगा प्रहार ।
कांनि सुन्यों झनकार तब अंग उत्साह उदार ।।[4]

1- ~~ल०प०वि०~~ ~~वेंकि~~-काव्यप्रकाश, ~~छन्द-321~~ पृ. २६२

2- लखपतिजससिन्धु, छन्द-61

3- वही- छन्द-63

4- वही- छन्द-65

शेष वर्णन अर्थात् विभावानुभाव की अदोषता, प्रतिकूल विभावादिक के वर्णन में भी कुलपति के रस-रहस्य का ही सहारा लिया है।

प्रकृति विपर्यय दोष :

जहाँ पर गुण प्रकृति के विपरीत वर्णन हो वहाँ प्रकृति विपर्यय दोष होता है।[1] कुलपति भी यही विचार प्रगट करते हैं।[2] प्रकृति अथवा नायक तीन प्रकार के होते हैं - दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य। नायक चारप्रकार के होते हैं -धीरोदात्त, धीरललित, धीरउद्धत तथा धीरप्रशान्त। इनका क्रमश: वीर, श्रृंगार, रौद्र और शांत रसों में वर्णन होता है।[3] जिस प्रकार माता पिता के श्रृंगार वर्णन में लज्जा प्रतीत होती है उसी प्रकार देवों की श्रृंगारिकता का वर्णन नहीं किया जाता।[4] यह सारा वर्णन मम्मट के ही आधार पर किया है।[5] इनमें कोई नवीनता दृष्टिगत नहीं होती।

निष्कर्ष :

निष्कर्ष हम कह सकते हैं कि कुँवरकुशल का दोष प्रकरण विस्तृत तथा सुंदर वर्णित है। हाँ इतना है कि इस सारे वर्णन में कहीं पर मम्मट का सहारा लिया है तो कहीं पर कुलपति का। यथासंभव सभी के लक्षण देकर उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। कहीं-कहीं पर अपने मौलिक उदाहरण भी प्रस्तुत किए हैं।

1- कही कुअरि ये गुन प्रकृति कहँ जु उलटी कोय।
प्रकृति विपर्यय दोष पहि लखै सयाने लोय।। लखपतिजससिन्धु, छन्द-80

2- औहि है गुन प्रकृति लखि उलटी जहं होइ।
प्रकृति विपर्यय दोष तहँ कहौ सबै कवि लोइ।। ~~एसए~~ रसरहस्य, पंचम वृतांत, छन्द-26

3- धीर उदात्त रू धीर मृदु उद्धत शांत उचारि।
बीर सिंगार रू रुद्र बनि बहु ज्यौं शांत बिचारि।।लखपतिजससिन्धु, छं073

4- तात मात के सुरन ज्यौं बदत लाज बहु होय।
त्यौं देवनि कौ सुरत तहँ कहत न कबिवर कोय।। वही-छन्द-79

5- ~~देखिए~~- काव्यप्रकाश, पृ0 267-68

छन्द निरूपण :

कुँवरकुशल ने 'लखपतिजससिन्धु' के उत्तरार्द्ध में छन्द का निरूपण किया है। यह निरूपण चतुर्दश, पंचदश तरंगों में हुआ है। कुँवरकुशल द्वारा निरूपित छन्दों का विवेचन करने से पूर्व हम यहाँ पर छन्द के महत्व और छन्द के अर्थ पर विचार कर लेना समीचीन समझते हैं।

छन्द का महत्व :

छन्द वेद के छह अंगों में से एक माना जाता है।[1] साथ ही छन्द को वेदों के चरणतुल्य भी माना है।[2] अर्थात् मानव-जीवन में पैरों की महत्ता अत्यधिक है उसी भाँति छन्द भी वेद के पैर हैं जिनसे गतिशीलता का द्योतन होता है। अतः इससे यह सिद्ध होता है कि छन्द को वैदिक काल से ही महत्व मिलता रहा है। इतना ही नहीं वैदिक युग में छन्द देवताओं को प्रसन्न करने का एक साधन भी था। अतः इनका रूप भी अलौकिक ही था। ऐसा भी माना जाता था कि छन्द विश्व को समस्त भीतियों से युक्त करने वाला और अमरत्व-प्रदाता है।[3] शतपथ ब्राह्मण में

1- शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दसां चय:।
ज्योतिषामयनंचैव वेदांगानि षडेव तु ।।

वृत्तरत्नाकर, पृ० 1 (मुखबन्ध से उद्धृत)

2- छन्द पादौतु वेदस्य । * ।।

छन्द प्रभाकर-जग्गनाथप्रसाद 'भानु' पृ० 2 (भूमिका से उद्धृत)

3- आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द योजना-डॉ० पुत्तूलाल शुक्ल, पृ० 31 से उद्धृत।

यह भी बताया गया है कि छन्द स्वर्ग प्राप्ति के भी साधन थे, इसी के द्वारा देवताओं को स्वर्ग की प्राप्ति हुई थी।[1] इसके अतिरिक्त पाणिनीय शिक्षा में भी यह बताया गया है कि स्वर, वर्ण और अर्थ संयुक्त छन्द का ज्ञान करके जो वेद का अध्ययन करता है, वह ब्रह्मलोक का भागी होता है।[2]

इसी ग्रंथ में अन्य स्थान पर एक मत यह भी प्रस्तुत किया गया है कि 'यदि कोई मंत्र का अर्थ जाने बिना स्वर और वर्ण से च्युत सदोष प्रयोग करता है, तो वह वाणी यजमान को उसी तरह मारती है, जैसे इन्द्र का शत्रु 'इन्द्रशत्रु' समस्त पद के अशुद्ध उच्चारण के अपराध से मरा था।[3] इन परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वेदों में छन्द का महत्व आंतरिक दृष्टि से था। इनसे वेद-मंत्रों के स्थायित्व और उच्चारण -शुद्धता पर बल दिया जाता था।

कालान्तर में छन्दों को लौकिक दृष्टि से महत्व मिलने लगा और भाषा और कविता के लिए छन्द की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। भरत मुनि ने तो यहाँ तक कह दिया कि छन्द से रहित कोई शब्द नहीं और शब्द से रहित कोई छन्द नहीं।[4] इसी भाँति मध्यकाल में भी छन्द को बाह्य दृष्टि से ही देखा

1- छन्दोभिर्हि देवा: स्वर्गं लोकं समाश्नुवते।
आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द योजना -डॉ० पुत्तूलाल शुक्ल, पृ० 31 से उद्धृत।

2- हस्तेन वेद योऽधीते स्वरवर्णार्थसंयुतम्।
ऋग्यजु: सामभि: पूतो ब्रह्मलोके महीयते।
वही, पृ० 32 से उद्धृत।

3- मन्त्रोहीन: स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति, यथेन्द्रशत्रु: स्वरतोऽपराधात्।।
आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द योजना-डॉ० पुत्तूलाल शुक्ल, पृ० 33 से उद्धृत।

4- छन्दो हीनो शब्दोऽस्ति, न छन्द: शब्दवर्जितम्।
वैदिक छन्दोमीमांसा-युधिष्ठिर मीमांसक, पृ० 8 से उद्धृत।

पड़े जाता रहा। अर्थात् छन्द की महत्ता आध्यात्मिक दृष्टि से न होकर काव्य के साथ विशुद्ध साहित्यिक एवं शास्त्रीय दृष्टि से स्वीकार की गई। इसके दो पहलू समक्ष रखे गये एक कविता के निर्माण में छन्द का महत्व स्वीकार किया और दूसरा काव्यानन्द की प्राप्ति में भी छन्द की महत्ता स्वीकृत की गई। मध्यकाल के अंतर्गत पंजाब प्रांत के गुरुमुखी लिपि के आचार्य निहालसिंह ने रस प्राप्ति की दृष्टि से छन्द की महत्ता बतलाई है और छन्द रहित काव्य को दीपरहित गृह की भाँति माना है।[1] आचार्य शीतल ने काव्य और छन्द अटूट सम्बंध माना है और रस और छन्द को आत्मा और शरीर की भाँति माना है। शरीर का अस्तित्व तो आभूषणों के बिना भी संभव है परन्तु शरीर और आत्मा दोनों की उपस्थिति आवश्यक है। इसलिए बिना छन्द के ज्ञान के कविता पढ़ना उपहास कराना है।[1] इसी तरह पल्लव की भूमिका में सुमित्रानन्दनपंत जी ने भी काव्य और छन्द के आपसी सम्बंध को स्पष्ट करते हुए लिखा है - कविता तथा छन्द के बीच बड़ा घनिष्ठ सम्बंध है, कविता हमारे प्राणों का संगीत है, छन्द हृत्कम्पन: कविता का स्वभाव ही छन्द में लयमान होना है। जिस प्रकार नदी के तट अपने बंधन से धारा की गति को सुरक्षित रखते-जिनके बिना वह अपनी ही बन्धन हीनता में अपना प्रवाह खो बैठती है उसी प्रकार छन्द भी अपने नियंत्रण से राग को स्पन्दन कम्पन तथा वेग प्रदान कर निर्जीव शब्दों के

1- अलंकार आभरण सुरस जीवन छन्द तन जान।
तन भूषण बिन थिर रहत बिना जीवन तन हान।
पढ़े ग्रन्थ छन्दों बिन कवित रासि उपहास।
या ते छन्दन को कहो कविजन धरि उल्लास।

गुरुमुखी लिपि में उपलब्ध हिन्दी रीतिकाव्य- डॉ0 ईश्वरसिंह, पृ0 333 से उद्धृत।

~~2- पल्लव-सुमित्रानंदन पंत, पृ0 33~~

रोड़ों में एक कोमल, सजल, कलरव भर, उन्हें सजीव बना देते हैं।[1] यहाँ पर काव्य की गति और काव्य में अमूर्तभावों की मूर्तता की ओर संकेत किया गया है। इसी क काव्य की गत्यात्मकता की ओर बाबू जगन्नाथप्रसाद 'भानु' ने भी संकेत किया है।[2] इसी गत्यात्मकता के सम्बंध में डॉ0 दयाशंकर शुक्ल ने भी अपना विचार प्रस्तुत करते हुए कहा है कि - भाषा यदि काव्य का शरीर है तो छन्द निश्चित रूप से उसमें स्फूर्ति भरनेवाली गति। + + छन्द में प्रकट करने से साधारण बात में भी एक ऐसी गति आ जाती है, जो मनुष्य के चित्त की अनुवर्तिनी हो उठती है।[3]

छन्द के महत्व पर कुँवरकुशल ने भी अपना मत प्रस्तुत किया है। इनका पिंगल शास्त्र का एक अन्य ग्रंथ 'गौड़-पिंगल' भी मिलता है। उसी में छन्द के महत्व पर प्रकाश डाला गया है। कविता करने के पूर्व छन्द का ज्ञान प्राप्त कर लेना अत्यावश्यक है। बिना छन्द के ज्ञान के ही जो कविता करता है वह कवि उपहास का पात्र बनता है। जो व्यक्ति पिंगल के ज्ञान के बिना काव्य करता है वह उसी प्रकार अज्ञानी है जिस प्रकार कोई व्यक्ति गीता को जाने बिना ही ज्ञान की बात कहता हो अथवा कोकशास्त्र को पढ़े बिना ही रति का आनंद प्राप्त करना चाहता हो -

---

1- पल्लव-सुमित्रानंदन पंत, पृ0 33

2- चरणस्थानीय होने के कारण छन्द परम पूज्यनीय है, जैसे भौतिक सृष्टि में बिना पांव के मनुष्य पंगु है, वैसे काव्यरूपी सृष्टि में बिना छन्द: शास्त्र के ज्ञान के मनुष्य पंगुवत है। बिना छन्द: शास्त्र के ज्ञान के न तो कोई काव्य की यथार्थ गति समझ सकता है न उसे शुद्ध रीति से रच ही सकता है।

छन्द प्रभाकर-जगन्नाथप्रसाद 'भानु', पृ0 2(भूमिका)

3- हिन्दी का समस्यापूर्ति काव्य-डॉ0 दयाशंकर शुक्ल, पृ0 267

पिंगल ग्रन्थ पढ़े बिना कविता करत जु होय ।
वह कवि की संसार में हांसी कवि में होय ।।
कविता पिंगल बिनु करैं गीता बिनु कह ग्यान ।
कोक कंठ बिनु रति करैं अति वह नर अग्यान ।।[1]

यहाँ पर कुँवरकुशल ने सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से छन्द की महत्ता बतलाई है। किसी के समक्ष कहने से पूर्व ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए और किसी वस्तु से आनन्द प्राप्त कर लेने से पूर्व उसके सम्बंध में पूरी जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिए अन्यथा वह न तो अपनी बात कह सकता है और न ही उसे आनन्द की प्राप्ति ही हो सकती है। अत: निष्कर्ष यह निकलता है कि काव्य रचना के लिए तथा काव्यानन्द को प्राप्त करने के लिए छन्द का ज्ञान परम आवश्यक है।

इसके अतिरिक छन्द का महत्व एक अन्य दृष्टिकोण से भी है। छन्द लय का दूसरा नाम है। छन्द में लयात्मकता का गुण होने के कारण रचना और भी अधिक प्रभावशाली हो जाती है क्योंकि लयात्मकता और संगीतात्मकता ही हमारी हृदय-तन्त्री को उद्वेलित व झंकृत कर सकती है। इसी के कारण हमारे भाव संस्पर्श होकर तरंगित हो उठते हैं। छन्द के कारण काव्य में स्थिरता का गुण भी आता है। अर्थात् एक लम्बी कालावधि तक काव्य को स्मरित रखने के का कारण भी छन्द ही बनता है। छन्द भावों को तीव्रता से सम्प्रेषित तो करता ही है। साथ ही शीघ्रता से सम्मोहित भी कर लेता है। इस सम्बंध में डॉ० पुत्तूलाल शुक्ल का कथन प्रस्तुत करना उचित जान पड़ता है- छन्द के द्वारा कल्पना का रूप सजग होकर मन के सामने प्रत्यक्ष हो जाता है अत: उन भावों को ग्रहण करने में मन को प्रयत्न

1- गौहड़ पिंगल-प्रथम उल्लास, छन्द सं० 8,9

नहीं करना पड़ता ।[1]

छन्द का अर्थ :

छन्द शब्द की व्युत्पति दो शब्द छन्दस् और छन्दक से हुई मानी जाती है। छन्दस की उत्पति भी दो प्रकार से बताई जाती है -(1) छदि संवरणे- इस सूत्र के अनुसार छन्दस शब्द का अर्थ हुआ आच्छादन । (2) चदि आह्लादे-जिसका अर्थ है आह्लादन ।[2] छन्दक का अर्थ है हाथ में धारण करनेवाला आभूषण विशेष।[3] अत: छन्द के साथ आह्लादन अर्थ उचित प्रतीत होता है। तैतरीय ब्राह्मण में छन्द शब्द का अर्थ इस प्रकार बताया है - छन्दासि वै व्रजो गो स्थान: अर्थात् रश्मियों का स्थान बाड़ा सूर्य ही है।[4] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार अन्न ही पशु है, उन्होंने प्रजापति को आच्छादित किया है, जो इसको आच्छादित किया, इससे इनको छन्द कहते हैं।[5] कात्यायन ने कहा है ज्ञानी पुरुष के लिए सारा वांगमय छन्दोरूप है क्योंकि छन्द और पृच्छा(जानने की इच्छा) के बिना कोई शब्द प्रवृत नहीं होता ।[6] एक अन्य स्थान पर भी छन्द का लक्षण देते हुए कहा है जो अक्षर का परिमाण है वह छन्द कहाता है।[7] अथर्ववेद में भी छन्द को अक्षर संख्या का अवच्छेदक अथवा

1- आधुनिक हिंदी काव्य में छन्द योजना-डॉ0 पुत्तूलाल शुक्ल, पृ035

2- मात्रिक छन्दों का विकास-डॉ0 शिवनन्दनप्रसाद, पृ0 10 से उद्धृत ।

3- वही-पृ0 9 से उद्धृत ।

4- छन्दोमीमांसा-युद्धिष्ठिर मीमांसक, पृ0 5 से उद्धृत ।

5- अन्नं वाव पशव तान्यस्मा(प्रजापतये)अच्छदयंस्तानि, यदस्मा ~~अच्छ च्यंस्तस्मा~~- च्छन्दासि । छन्दोमीमांसा-युधिष्ठिर मीमांसक, पृ0 6 से उद्धृत ।

6- छन्दोभूतमिदं सर्वं वांगमयं स्याद्विजानत:
नाच्छन्दसि न वापृष्टे शब्दश्चरति कंचन । वही, पृ0 9 से उद्धृत ।

7- यदक्षर परिमाणं तच्छन्द: वही, पृ0 9 से उद्धृत ।

नियामक माना है।[1] छन्दों का प्रारंभिक स्वरूप अक्षरों की गणना द्वारा निर्मित किया जाता था इसीलिए छन्द का लक्षण भी उसी दृष्टि से प्रस्तुत किया जाता रहा। कालान्तर में छन्दों का विधान मात्राओं के आधार पर भी बनाया जाने लगा, इसलिए छन्द की परिभाषा देते समय वर्ण और मात्रा दोनों का उल्लेख किया गया। हिन्दी साहित्यकोश में इसी दृष्टि से कहा है कि - अक्षर, अक्षरों की संख्या एवम् क्रम, मात्रा, मात्रा-गणना तथा यति-गति आदि से सम्बंधित विशिष्ट नियमों से नियोजित पद्य-रचना छन्द कहलाती है।[2] डॉ० जानकीनाथ सिंह 'मनोज' ने छन्द का लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत किया है - 'लय छन्द की आत्मा है।'[3] यहाँ पर लय के माध्यम से छन्द की प्रवाहमानता तथा उसकी गत्यात्मकता एवं श्रवणप्रियता की निहित पर बल दिया है। बाबू जगन्नाथप्रसाद 'भानु' के अनुसार - जिस पद रचना में मात्रा या वर्ण, यति, गति के नियमों का अनुसरण होता है और अंत में अन्त्यानुप्रास होता है वह छन्द है।[4] भानु जी का लक्षण छन्द के बाह्य पक्ष का उद्घाटक है तो मनोज जी का लक्षण छन्द की आन्तरिकता का परिचायक है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी छन्द को आवेग का वाहन मानते हैं तथा अनुभवों की सहज अभिव्यक्ति का साधन भी।[5] डॉ० पुत्तूलाल शुक्ल का विचार है कि छन्द वह वैखरी ध्वनि है, जो प्रत्यक्षीकृत निरंतर तरंगभंगिमा से आह्लाद के साथ भाव और अर्थ की अभिव्यंजना कर सके।[6]

1- छन्दोऽक्षर संख्यावच्छेदकमुच्यते। छन्दोमीमांसा-युधिष्ठिर मीमांसक, पृ० 9 से उद्धृत।

2- हिन्दी साहित्य कोश, पृ० 290

3- आधुनिक हिंदी काव्य में छन्द योजना-डॉ० पुत्तूलाल शुक्ल, पृ० 19 से उद्धृत।

4- मत्त बरण गति यति नियम, अंतहिं समता बंद।
जा पद रचना में मिलें 'भानु' भनत स्वइ छंद।।
छन्द प्रभाकर-जगन्नाथप्रसाद 'भानु' पृ० 13

5- (अ) छन्द आवेग का वाहन है। साहित्य का मर्म-आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० 41

(आ) एक चित्त के अनुभव को अनेक चित्तों में अनायास संचरित करनेवाला महान साधन है। वही, पृ० 46

6- आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द योजना-डॉ० पुत्तूलाल शुक्ल, पृ० 21

निष्कर्षत: हम कह सकते हैं कि कविता के अंतर्गत छन्द उसकी गति को संचालित करने का एक साधन है । छन्द की रसानुकूल विनियोजना करके कवि अपने अनियन्त्रित भावों को नियंत्रित कर पाठक के समक्ष इस प्रकार प्रस्तुत करता है कि पाठक छन्द को पढ़ते समय एक प्रकार की तरंग में प्रवाहित होने लगता है और कवि के भावों के साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर सकता है।

छन्द के भेद :

छन्द के भेदों की एक विकसित परंपरा दृष्टिगत होती है। प्रारंभ से लेकर हिन्दी तक आते-आते छन्दों के भेदों एवं संख्या में पर्याप्त परिवर्तन परिवर्द्धन होते रहे। मुख्यत: छन्द के दो भेद थे । वैदिक तथा लौकिक। वैदिक छन्द केवल वेद के अध्ययन के लिए आवश्यक होते थे और लौकिक छन्द अन्य ग्रन्थों के लिए। वैदिक युग में एक अक्षर से लेकर एक सौ चार अक्षरों तक के छन्दों का वर्णन मिलता है।[1] संस्कृत में प्राय: सभी छन्द चतुष्पात् होते हैं जबकि वैदिक छन्दों मे कई छन्द त्रिपात् तथा पंचपात् भी पाये जाते हैं। जैसे गायत्री, उष्णिक्,पुरउष्णिक् तथा ककुप् छन्द त्रिपात होते हैं और पंक्ति छन्द पंचपात् होते हैं।[2] प्रारंभ में वैदिक छन्दों की संख्या सात मानी गई है - गायत्री (त्रिपात् छन्द, (प्रत्येक चरण 8 वर्ण) उष्णिक् (त्रिपात छन्द, प्रथम-द्वितीय चरण 8 वर्ण, तृतीय चतुर्थ ~~प्रत्येक~~ चरण 12 वर्ण) अनुष्टुप् (चतुष्पात् छन्द, प्रत्येक चरण 8 वर्ण) बृहती (प्रथम, द्वितीय-चतुर्थ चरण 8 वर्ण, तृतीय चरण 12 वर्ण) पंक्ति (पंचपात् छन्द, प्रत्येक चरण में 8 वर्ण) त्रिष्टुप् (चतुष्पात् छन्द, प्रत्येक चरण 11 वर्ण) तथा जगती (चतुष्पात् छन्द, प्रत्येक चरण 12 वर्ण)। इनमें उष्णिक् का अवान्तर भेद

1- आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द योजना-डॉ0 पुत्तूलाल शुक्ल, पृ0 71 से उद्धृत।

2- प्राकृत पैंगलम (भाग-2) डॉ0 भोलाशंकर व्यास, पृ0 326 से उद्धृत।

पुरउष्णिक्,कुकुप्,बृहती का सतोबृहती तथा पंक्ति का प्रस्तार पंक्ति भी पाया जाता है।[1] इन छन्दों में केवल अक्षर गणना पर ही ध्यान दिया जाता था, लघु गुरु का कोई विशेष नियम नहीं था। इसके अतिरिक्त एकाध संख्या की अधिकता एवं न्यूनता होने पर क्रमशः भूरिक् व निवृत् भी कहलाते थे।[2]

ब्राह्मण ग्रन्थों में गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती और कहीं-कहीं अनुष्टुप भी मिलता है।[3] कात्यायन ने वेद के सात छन्दों को मिलाते हुए अति जगती, शक्वरी, अति शक्वरी, अष्टि, अत्यष्टि, धृति तथा अतिधृति की गणना करते हुए कुल चौदह छन्दों का उल्लेख किया है।[4] जयदेव कृत पिंगल में कृति, प्रकृति, आकृति, विकृति, संकृति, अभिकृति की भी गणना करते हुए इक्कीस प्रकार के छन्द बताये हैं।[5] भरत ने मा, प्रमा, प्रतिमा, उपमा तथा समा को भी सम्मिलित करते हुए 26 प्रकार के छन्द बताये हैं।[6] साथ ही इन छन्दों को दिव्य, दिव्येतर और दिव्य मानुष जैसे वर्गों के अंतर्गत भी वर्गीकृत किया है।[7] 26 से अधिक अक्षरों वाले छन्दों को भरत ने मालावृत की संज्ञा दी है।[8] आगे चलकर ये मालावृत छन्द ही दण्डक के नाम से पहचाने जाने लगे। इन संस्कृत छन्दों में गुरु लघु का भी ध्यान

1- वही- पृ0 326 से उद्धृत।

2- वही- पृ0 327 से उद्धृत।

3- छन्दोमीमांसा-युधिष्ठिर, मीमांसक, पृ0 84

4- वही- पृ0 84 से उद्धृत।

5- वही- पृ0 85 से उद्धृत।

6- वही- पृ0 85 से उद्धृत।

7- वही- पृ0 81 से उद्धृत।

8- प्राकृत पैंगलम(भाग-2) डॉ0 भोलाशंकर व्यास, पृ0 329

रखा जाता था। संस्कृत के काव्य ग्रन्थों में वाल्मीकि रामायण में प्रमुख रूप से अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग मिलता है इसके अतिरिक्त इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, वंशस्थ, रुचिरा तथा अपरवक्त्र जैसे मिश्रित छन्दों की भी विनियोजना की गई है। कालिदास में 19 छन्द भारवि तथा माघ में प्रकृति के छन्द मिलते हैं। पुराण में कुछ नवीन मिश्रित भी मिलते हैं जैसे 7 तगण+2 गुरु (वर्ण) का छन्द मत्स्यपुराण में मिलता है।[1] इन संस्कृत छन्दों की विविधता उनकी ईजाद का परिचायक है। संस्कृत छन्दों को सम, अर्द्धसम तथा विषम कोटि में विभक्त किया जा सकता है।

प्राकृत साहित्य में भी इन संस्कृत के छन्दों का प्रयोग मिलता है। प्राकृत की अपनी मौलिकता 'गाहा' छन्द के प्रयोग में है। हाल की गाथाओं में ही इस गाहा छंद का प्राचीनतम रूप मिलता है। इसी के विगाहा उगाहा आदि मात्रिक गणों में परिवर्तन करके बनाये गये हैं। अपभ्रंशकाल में गाहा छन्द जैनों के धार्मिक साहित्य में प्रयुक्त किये जाते रहे हैं। अपभ्रंश काव्य परंपरा जन समाज के निकट थी इसलिए उसकी पृष्ठभूमि में लोकगीतों की संगीतात्मकता विद्यमान है। अपभ्रंश में दो प्रकार के छन्द मिलते हैं मात्रावृत तथा तालवृत।[2]

हिन्दी में छन्द का अस्तित्व संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश परम्परा के विकास का परिणाम है। संस्कृत के वर्णवृत्त, प्राकृत के मात्रिक छन्द तथा अपभ्रंश के तालछन्दों का सम्मिलित रूप देखने को मिलता है। इसके अतिरिक्त मात्रिक छन्दों को संस्कृत के वर्णिक वृत्त के साँचे में ढालकर प्रयोग किया जाना संस्कृत के छन्दों के प्रभाव का प्रतिफल है।

1- वही- पृ0 330 से उद्धृत।

2- प्राकृत पैंगलम् (भाग-2) डॉ0 भोलाशंकर व्यास, पृ0 337 से उद्धृत।

हिंदी के आदि कवियों ने दोहे जैसे तालछन्द को चुना और रीतियुगीन कवियों ने मुक्तक काव्य की रचना की । इसके लिए सवैया, छप्पय इत्यादि लिए। संस्कृत की वर्णों की विविधता को अपनाने वाले केशवदास तथा गुमान मिश्र ही हैं, शेष कवियों ने तो दोहा, सवैया, छप्पय इत्यादि तक ही अपने को सीमित रखा। आधुनिक काल में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी तथा हरिऔध जी ने वर्णवृत्तों को अपनाया।

अतः हम देखते हैं कि छन्दों के विकास की अपनी एक परम्परा रही है। पहले छन्दों को अलौकिकत्व का स्थान प्राप्त था तथा बाद में वे लौकिक धरातल पर प्रतिष्ठित हुए । वेदों के अध्ययन के अतिरिक्त काव्य ग्रंथों के लिए भी छन्द का उपयोग हुआ। संस्कृत में वर्णवृत्तों का ही प्रयोग होता था प्राकृत में आकर छन्द के दो प्रकार के माने गये मात्रिक तथा वर्णिक। वर्णवृत्त अक्षरों की गणना पर आधारित होते हैं। मात्रिक छन्दों में मात्राओं की विनियोजना पर बल दिया जाता है। युधिष्ठिर मीमांसक इनको परिभाषित करते हुए कहते हैं कि 'जिन छन्दों में अक्षरों की इयत्ता के साथ-साथ लघु गुरु मात्राओं का भी ध्यान रखा जाता है, वे मात्रिक छन्द कहाते हैं। जिन छन्दों में केवल अक्षरों की इयत्ता ही आवश्यक होती है (मात्राओं का विचार आवश्यक नहीं होता) वे अक्षर छन्द कहाते हैं।[1] भानु जी ने ने छन्दों के दो भेद ही बताये हैं।[2]

हिंदी में प्रयुक्त छन्दों का वैशिष्ट्य :

किसी भी भाषा में प्रयुक्त छन्द उसकी अपनी प्रवृति पर आधारित रहते हैं। भाषा की प्रवृति के अनुरूप छन्दों का प्रयोग किये जाने पर उसमें भावों को वहन करने

1- छन्दोमीमांसा-युधिष्ठिर मीमांसक, पृ० 81

2- छंद अहहिं द्विविध जग मांही, मात्रिक वर्णिक सुनत सुहाहीं।
मात्रिक छंदहि जाती कहिये, वर्णिक वृत्त कहत मुद लहिया।

छन्दः प्रभाकर-जगन्नाथ मिश्र प्रसाद भानु पृ० 5

की सामर्थ्य कई गुना अधिक बढ़ जाती है। इस तथ्य को संस्कृत और हिंदी में प्रयुक्त छन्दों को देखकर भलीभाँति समझ सकते हैं। संस्कृत भाषा तथा हिन्दी भाषा में प्रयुक्त छन्द अलग-अलग है। संस्कृत में वर्णिक छन्दों का प्रयोग मिलता है और हिन्दी भाषा में मात्रिक छन्दों का। संस्कृत भाषा समासयुक्त रही है। यहाँ पर बड़े-बड़े समासयुक्त शब्दों के द्वारा अपनी भावाभिव्यक्ति प्रकट करते रहे हैं यहाँ तक कि प्रारम्भ से लेकर अंत तक पूरा वाक्य ही एक शब्द का रूप धारण कर लेता है। हिन्दी की प्रवृति समासहीन शब्दों की ओर रही है । हिन्दी में छोटे-छोटे शब्द मिलते हैं। भाषा के अतिरिक्त छन्द का संगीत के साथ भी घनिष्ठ सम्बंध रहता है। संस्कृत में विभक्तियों तथा सन्धियुक्त शब्दों का प्रयोग मिलने के कारण ही वर्णिक छन्दों की बहुलता मिलती है। लेकिन हिंदी संगीत का अपना निजी आदर्श रहा है। हिंदी के संगीत की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए सुमित्रानंदन पंत जी ने कहा है वह लोल लहरों का चंचल कलरव, बाल झंकारों का छेकानुप्रास है। इसमें प्रत्येक शब्द का स्वतंत्र हृत्स्पन्दन, स्वतंत्र अंग-भंगी, स्वाभाविक साँसे हैं। हिन्दी का संगीत स्वरों की रिमझिम में बरसता, छनता, छनकता, बुद्बुदों में उबलता छोटे-छोटे उत्सों के कलरव में उछलता-किलकता हुआ बहता है।[1] इसी सांगितिक विशेषता के कारण ही हिन्दी में मात्रिक छन्दों का विकास हुआ। हिन्दी भाषा अपना सौन्दर्य जितना मात्रिक छन्दों में रख सकी है उतना वर्णिक छन्दों में नहीं। हिन्दी का संगीत चांचल्यपूर्ण है जबकि संस्कृत का गंभीर। हिन्दी का संगीत अपनी स्वाभाविक नृत्यमुद्रा में चलता है और संस्कृत का संगीत मानों किसी के द्वारा सधाये हुए कदमों को उठाता हुआ चलता है। पन्त जी ने कहा है- हिंदी का संगीत ही ऐसा है कि उसके सुकुमार पदक्षेप के लिए वर्णवृत्त पुराने फैशन के चाँदी के कड़ों की तरह बड़े भारी हो जाते हैं, उसकी गति शिथिल तथा विकृत

1- पल्लव (प्रवेश) सुमित्रानंदन पंत, पृ0 35

हो जाती, उसके पदों में वह स्वाभाविक नूपुर ध्वनि नहीं रहती ।[1] अपनी इसी कोमलता, सरसता तथा प्रवाहमानता के कारण ही हिंदी में मात्रिक छन्दों की विनियोजना की गई है ।

हिंदी रीतिकाल के छन्दों पर दृष्टिपात करते हैं तो इस युग में दो विशिष्ट छन्द सवैया तथा कवित्त का प्रयोग बहुलता से किया गया मिलता है । दोहे को भी लिया है परन्तु सवैया तथा कवित्तों की संख्या अधिक है । दोहे का प्रयोग या तो नीति काव्य में मिलता है अथवा लक्षणग्रन्थों के अंतर्गत लक्षण देते समय दोहे को देखा जा सकता है परन्तु सवैया तथा कवित्त अपने तत्कालीन युग की प्रवृत्ति के अनुरूप शृंगारिक तथा प्रशस्तिपरक काव्य में प्रचुरता से प्रयुक्त हुए हैं । सवैया, छन्द शृंगारपरक रचना के अनुकूल भी रहा है और कवित्त में शृंगार और वीररसात्मक दोनों का वर्णन मिलता है । परन्तु पंत जी सवैया छन्द को अधिक उपयुक्त न मानते हुए अपना आशय इस प्रकार प्रकट करते हैं - "सवैया में एक ही सगण की आठ बार पुनरावृत्ति होने से, उसमें एक प्रकार की जड़ता ~~एक, पणर~~ स्वरता (मोनोटोनी) आ जाती है । उसके राग का स्वरपात बार-बार दो लघु अक्षरों के बाद आनेवाले गुरु अक्षर पर पड़ने से सारा छन्द एक तरह की कृत्रिमता तथा राग की पुनरुक्ति से जकड़ जाता है ।"[2] परन्तु वास्तव में देखा जाये तो ऐसा नहीं है । सवैया छन्द शृंगारिक भावों की अभिव्यंजना के लिए प्रयुक्त हुआ है । शृंगार जैसे कोमल भाव के अनुरूप भाषा के छोटे-2 वर्णों से माधुर्य का समावेश किया गया है । दो लघु और एक गुरु के माध्यम से कोमल भावों को सफलतापूर्वक व्यक्त किया गया है । रीतिकाल में देव, घनानन्द तथा पद्माकर जैसे कवियों की सवैया को अपनाने की सफल पकड़ देखने को मिलती है । वहाँ मानों भाव धीरे-धीरे मन्द गति से कदम-ताल सी करते हुए एक साथ बढ़ते चले जाते हैं । इसलिए सवैया बहुत उपयुक्त छन्द रहा है ।

1- पल्लव (प्रवेश) सुमित्रानंदन पंत, पृ0 35

2- वही - पृ0 37

रीतिकाल में दूसरा बहुप्रयुक्त छन्द घनाक्षरी (कवित्त) है। घनाक्षरी छन्द के के उद्भव पर विद्वानों के अलग-अलग मत रहे हैं तथापि अद्यपर्यन्त निश्चित रूप से उत्स नहीं मिल पाया है। डॉ० पुत्तूलाल शुक्ल ने 'घनाक्षरी छन्द का सम्बंध सूत्र वैदिक अनुष्टुप् से जोड़ा है जो लय की विभिन्न अवस्थाओं में विकसित होकर भी अपनी अक्षर संख्या को अक्षुण्ण रख सका। इस छन्द का पूर्व प्रयोग छन्दोमंजरी में मदिरा(7भ+ ग) के रूप में, किरीट(8भगण) का प्राकृत पैंगलम्, छन्दोनुशासन तथा छन्दोमंजरी में, दुर्मिल का प्राकृत पैंगलम्, छन्दोमंजरी में, मत्तगयन्द का वृत्तरत्नाकर इत्यादि में बतलाकर इस छन्द की प्राचीनता बतलाने का प्रयास किया है।[1] डॉ० भोलाशंकर व्यास का मत है कि 'घनाक्षरी छन्द ध्रुपद ताल पर मजे से गाया जाता रहा है। अतः हो सकता है, इसका विकास अपभ्रंश काल के किसी गेयताल छन्द से हुआ हो और इसके वर्तमान रूप को देने में गोपाल-नायक, बैजूबावरा, तानसेन जैसे ध्रुपदियों का खास हाथ रहा हो।[2] इसके अतिरिक्त पन्त जी कवित्त को हिंदी का औरसजात नहीं वरन् पोष्यपुत्र मानते हुए लिखते हैं - 'कवित्त छन्द मुझे ऐसा जान पड़ता है, हिंदी का औरसजात नहीं, पोष्यपुत्र है, न जाने यह हिंदी में कैसे और कहाँ से आ गया, अक्षर मात्रिक छन्द बँगला में मिलते हैं, हिन्दी के उच्चारण संगीत की वे रक्षा नहीं कर सकते। कवित्त को हम संलापोचित (कलोकियल) छन्द कह सकते हैं, सम्भव है पुराने समय में भाट लोग इस छन्द में राजा महाराजाओं की प्रशंसा करते हों, और इसमें रचना सौकर्य पाकर तत्कालीन कवियों ने धीरे-धीरे इसे साहित्यिक बना दिया हो।[3] यों कवित्त के उत्स का कोई निश्चित पता नहीं चल पाया है परन्तु इनके प्रयोग की अधिकता से इन्कार नहीं किया जा सकता। साहित्य के इतिहास में एक विशेष समय तक कवियों द्वारा प्रयुक्त किया जाता रहा है। इतना ही नहीं, विशाल क्षेत्र द्वारा भी

1- आधुनिक हिंदी काव्य में छन्द -योजना, डॉ० पुत्तूलाल शुक्ल, पृ० 161

2- प्राकृतपैंगलम (भाग 2) - डॉ० भोलाशंकर व्यास, पृ० 576

3- पल्लव (प्रवेश) सुमित्रानंदन पंत, पृ० 38

अपनाया गया है । इस सम्बंध में निराला जी का कथन द्रष्टव्य है - `हिन्दी के प्रचलित छन्दों में जिस छन्द को एक विशाल भू-भाग के मनुष्य कई शताब्दियों तक गले का हार बनाए रहे, जिसमें उनके हर्ष-शोक,संयोग-वियोग और मैत्री शत्रुता की समुद्गत विपुल भाव-राशि आज साहित्य के रूप में विराज मान हो रही है आज भी जिस छन्द की आवृति करके ग्रामीण सरल मनुष्य अपार आनंद अनुभव करते हैं जिसके समकक्ष कोई दूसरा छन्द उन्हें जँचता ही नहीं, करोड़ों मनुष्यों के उस जातीय छन्द को, उनके प्राणों की जीवनी शक्ति को परकीया कहना कितनी दूरदर्शिता का परिचायक है ।[1]

प्रारंभ में भले ही भाटों द्वारा काव्य-रचना की जाती रही हो परन्तु कालान्तर में इसका स्वरूप पूर्णत: साहित्यिक बन गया और प्रचलित छन्दों में भी सर्वाधिक महत्व इसे ही मिला , `उसी की तरंग में हिंदी जनता को अपने मनोभव घोने और सुभाषित रत्नों की प्रशंसा में बहुत कुछ कहने और सुनने की आवश्यकता पड़ी ।[2]

रीतिकालीन इन छन्दों की विशेषता यह प्रकाश डालते हुए डॉ0 किशोरीलाल भी कहते हैं कि यों तुलसी आदि रीति पूर्व काल के कवियों द्वारा सवैयों की अधिक रचना की गई है पर उसका परिष्करण और सम्यक् विकास रीतिकाल में ही हुआ और श्रृंगार और करुण रस के कोमल भावों को जिस कलात्मकता के साथ इस छन्द ने वहन किया है कदाचित् अन्य छन्दों में वह गुण देखने को नहीं मिला । इस दृष्टि से रीति कवियों की यह सबसे बड़ी देन थी कि उन्होंने संस्कृत के छन्दों को न ग्रहण करके अपने छन्दों में एक दीर्घकाल तक अनेकानेक काव्य कृतियों का सृजन करते हैं । अपने इन्हीं गुणों के कारण इनकी मौलिकता स्वीकार्य है ।[3]

1- पन्त और पल्लव-सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला,पृ0 34

2- वही- पृ0 35

3- रीति कवियों की मौलिक देन-डॉ0 किशोरीलाल,पृ0 531-32

अन्तत: हम कह सकते हैं कि ऐसे अपूर्व लोकप्रिय एवं नाद-सौन्दर्य से समन्वित छन्दों का प्रयोग हिंदी साहित्य की अपनी विशेषता है। इन छन्दों में आकर्षण रहा होगा, भावों की व्यंजना का सरल माध्यम प अनुभव किया होगा तभी तो इतना आदर तथा सम्मान मिला। अन्य अनेक छन्दों को न लेकर केवल इन्हीं छन्दों को लिया है। मध्यकाल के पूर्व में दोहा, चौपाई इत्यादि छन्द प्रयुक्त हो रहे थे तथापि इन्हें इतना महत्व न देकर सवैया तथा कवित्त ही ग्राह्य हुए। इसे हिन्दी की अपनी मौलिकता ही माननी चाहिए।

गण स्वरूप :

छन्दशास्त्र में गण का प्रयोग पाद या चरण को मापने के लिए किया जाता है। अमरकोष के अनुसार श्रेणी-कोटि अथवा सेना का वह भाग जिनमें तीन गुल्म हों।[1] ज्ञान शब्द-कोश में गण के कुल 17 अर्थ बताये हैं। समूह, गरोह: वर्ग, जाति, श्रेणी, समान उद्देश्य वाले मनुष्यों का समूह, संघ, अनुचर या अनुयायि वर्ग, अक्षौहिणी का एक विभाग- 27 रथ, 27 हाथी, 81 घोड़े तथा 135 पैदल, छन्दशास्त्र में तीन वर्णों का समूह(भगण यगण आदि)।[2] इनमें से अंतिम अर्थ हमारे विषय का है। वैदिक छन्दों में अक्षरों द्वारा ही छन्द का परिचय मिलता है क्योंकि वैदिक छन्दों में पादगत अक्षरों की संख्या समानता के अतिरिक्त उदात्त, अनुदात्त और स्वरित ध्वनि, प्रकारों की योजना ही अभीष्ट होती थी, पादगत मात्राओं की संख्या- समानता अथवा मात्राओं का क्रम निर्देश आवश्यक नहीं था।[3] परन्तु लौकिक छन्दों में वर्ण

1- मात्रिक छन्दों का विकास- डॉ0 शिवनन्दन प्रसाद, पृ0 23 से उद्धृत।

2- ज्ञानशब्द-कोश- सं0 मुकुन्दीलाल श्रीवास्तव, पृ0 201

3- मात्रिक छन्दों का विकास-डॉ0 शिवनन्दनप्रसाद, पृ0 24 से उद्धृत।

और मात्रा दोनों दृष्टियों से गठन होने लगा । अत: एक ऐसी प्रणाली अथवा रीति का अनुभव किया जाने लगा जो कम से कम शब्दों के द्वारा पूरे छन्द का लक्षण प्रस्तुत कर सके । इसलिए ही गणों की योजना की गई । छन्दों के अनुरूप ही दो प्रकार के गण भी मिलते हैं - वर्णिक गण तथा मात्रिक गण ।

वर्णिक गण :

वर्णिक गण आठ प्रकार के होते हैं जिनमें अंत में लघु गुरु का भी समावेश किया गया है । इन वर्णिक गणों का निर्देश हमें कई ग्रन्थों में मिलता है । श्रुतबोध[1], सुवृत्तितिलक[2], जयदेव कृत पिंगल[3] तथा जयकीर्ति[4], केदारभट्ट[5] तथा हलायुध[6] ने भी इन गणों पर विचार किया है । सर्वप्रथम------------

---

1- आदिमध्यावसानेषु भजसा यान्ति गौरवम् । मात्रिक छन्दों का विकास-डॉ० शिवनन्दन प्रसाद
म्भरता लाघवं यांति मनौ तु गुरुलाघवम् ।।0पृ0 वहीथ पृ0 25 से उद्धृत ।

2- त्रिगुरु: प्राग्गुरुर्मध्यगुरुरन्तगुरुस्तथा ।
त्रिलघु: प्राग्लघुर्मध्यलघुरन्तलघुस्तथा ।।
मभजा:सहयारेफतकारौ चेति संज्ञिता: ।
ज्ञेयोलघुर्लकारोत्र गकारश्च गुरुर्मत: ।। सुवृत्ततिलक-पृ0 5

3- सर्वादिमध्यान्तवलौ त्रिकौ, म्नौ भ्यौ ज्रौ स्तौ ।
मात्रिक छन्दों का विकास- डॉ0 शिवनन्दन प्रसाद, पृ0 26 से उद्धृत ।

4- सर्वगुरुर्मगण: क्षितिरादिलघुर्य: पयोगणो श्रेय: ।
मध्यलघुरोऽग्नि:स्यादन्तगुरु:सो मरुन्नाम्ना ।
अन्तलघुस्तगण: श्वं मध्यगुरुर्जगण उच्चतेसूर्य: ।
आदिगुरुर्भश्चन्द्र: सर्वल्न: स्वस्त्रिका:सर्वेऽपि : ।।
मात्रिक छन्दों का विकास- डॉ0 शिवनन्दन प्रसाद, पृ0 26 से उद्धृत ।

5- म्यरस्तजभ्नगैर्लान्तैरेभिर्दशभिरक्षरै: ।
समस्तवाङ्मयं व्याप्तं त्रैलोक्यमिव विष्णुना ।। वृत्तरत्नाकर, पृ0 3

6- म्यरसतजभनलग । छन्द: सूत्रम्-पृ0 3

प्राकृतपैंगलम[1] । गण का स्वरूप देवता तथा फलाफल के साथ विस्तृत त रूप में वर्णित हुआ है । इसी का आधार आगे के ग्रन्थों में ग्रहण किया है । रीतिकालीन आचार्य देव ने थोड़े परिवर्तन के साथ देवता तथा फलाफल बताये हैं -

गण-प्रस्तार	गण	देवता	फल
sss	मगन	भूमि	संपति
111	नगन	नाग	सुख
s11	भगन	चंद्र	निर्मल यश
1ss	यगन	जल	वृद्धि

1-

गणस्वरूप	गणसंज्ञा	देवता		फलाफल
111	नगण	जल	मित्र	बुद्धि
sss	मगण	पृथ्वी		ऋद्धि
1ss	यगण	अग्नि	भृत्य	सुख-सम्पदा
s11	भगण	काल		मंगल
s1s	रगण	सूर्य	शत्रु	मरण
11s	सगण	चन्द्रमा		प्रवास
ss1	तगण	नाग	उदासीन	शून्य
1s1	जगण	गगन		उद्वेग

मात्रिक छन्दों का विकास- डॉ0 शिवनन्दन प्रसाद, पृ0 26-27 से उद्धृत ।

गण -प्रस्तार	गण	देवता	फल
lsl	जगन	सूर्य	रोग
sls	रगन	अग्नि	मृत्यु
lls	सगन	वायु	दूरगमन
ssl	तगन	आकाश	निरास[1]

जगन्नाथप्रसाद भानु ने भी ऐसा ही वर्णन किया है। उन्होंने उदाहरण भी दिये हैं और देवता तथा फल के स्थान पर शुभाशुभ पर विचार किया है।[2] परन्तु पुन: वर्णिक वृत्त के अंतर्गत देवता तथा फल सहित वर्णन किया है।[3]

कुँवरकुशल ने भी अष्टगण के स्वरूप देवता तथा फल पर विचार किया है। इन्हें एक साथ वर्णित न कर अलग-अलग तीन छन्दों में बताया है। पहले गण-स्वरूप देखिये -

मगन तीन गुरु मानि आदि लघु यगन उभय गुर ।।
रवहुं मधि लघु रगन बरनि गुरसघनसगन अतिक्षर ।।
अति तगन लघु अवल मध्य गुरू ।।
जगन प्रमानत भगन आदि गुरू ।।
भनत नगन लघु तीन जु आनत चौबीस बरन जामैं बिष्याद भव छतीसहि मान किय ।।
कवि कुंवर आठ गन विधि, यहै जानत चतुर सुजान जिय ।।[4]

1- शब्द-रसायन-सं0 डॉ0 जानकीनाथसिंह मनोज पृ0 185

2- छन्द: प्रभाकर- जगन्नाथ प्रसाद भानु, पृ0 10

3- वही- पृ0 108

4- ल.ज.सिं0 चतुर्दश त.छन्द सं0 52

गणों के देवता, फल तथा शुभाशुभ इस प्रकार कहे हैं -

मगन देव भुव मानि लछि दाता वहु लहियै ।
यगन देव जल जानि गोरिष्टाथिरगिह गहियैं ।।
सरग ज्ञान को सोंचि सरस सुख सोभा लहियै ।
भगन चंद को भजत कीर्त्ति पावत वह कहियै ।।[1]
रगन अग्नि आराधि मूढ मीचों फुरमावैं ।।
सगन पवन किय सोध देस औरे दरसावैं ।।
जगन पवन किय सोध ज्ञानि प्रगट संसहि परसावैं ।।
तगन प्रकास बताय सुन्नि फल को सरसावैं ।।[2]

कुँवरकुशल ने सगण और जगण दोनों का देवता पवन ही बताया है जबकि प्राकृतपैंगलम् में सगण तथा जगण का देवता क्रमश: चन्द्रमा तथा गगन बताया है, देव ने जगण का सूर्य तथा सगण का पवन बताया है, भानु के द्वारा बताये गये जगण तथा सगण के देवता भी वायु और सूर्य ही हैं यही नाम लखपति जससिन्धु में भी होने चाहिए, सगण का पवन तो ठीक बताया है परन्तु जगण का सूर्य ही उचित है क्योंकि कुँवरकुशल ने भी इसका फल ज्ञान का प्रकट होना संकेतित किया है ।

इसके अतिरिक्त लखपति जससिन्धु में मात्रिक गण भी उल्लिखित हुए हैं जो इस प्रकार हैं -

थपिट छड ढणा सु पंच थिर मत्त छ पंच महंत ।।
च्यारि तीन द्वै चित धरहु यह क्रम यह ही तंत ।।[3]

1- ल.ज.सि. पत्र्यवृत, छन्द सं 53
2- वही - सर्वेयी छन्द सं0 54
3- वही - छन्द सं0 23

'प्राकृत पैंगलम' में भी यही क्रम निर्दिष्ट हुआ है ।[1]

छन्द प्रभाकर में भी इन मात्रिकगणों का वर्णन किया गया है ।[2]

कुँवरकुशल ने 'लखपति जससिन्धु की चतुर्दश तरंग' में गणों के आपसी सम्बंध पर भी विचार किया है । अष्टगण में से मगण नगण दोनों मित्र, भगण यगण दोनों चाकर(दास) रगण सगण शत्रु तथा तगण जगण उदासीन है -

'मगन नगन द्वै मित्र भगन यगन चाकर भये ।।
रगन सगन है सत्रु तगनरू जगन उदास तकि ।।[3]

देव ने शब्द-रसायन में गणों के आपसी सम्बंध बताये हैं ।[4] गुरुमुखी लिपि के आचार्य हरिराम दास निरंजनी ने अपने हिन्दी ग्रन्थ 'छन्द रत्नावली' में भी इसी प्रकार का वर्णन किया है ।[5] छन्द : प्रभाकर में भी इस तथ्य की ओर संकेत किया गया है ।[6]

अब हम 'लखपति जससिन्धु' में दिये गये मात्रिक एवं वर्णिक छन्दों में से कुछ प्रमुख छन्दों पर विचार करेंगे -

---

1- ट ठड्ढाणह मज्झे
गण भेओ होंति पंच आक्खरओ ।
मात्रिक छन्दों का विकास-डॉ0 शिवनन्दन प्रसाद, पृ0 28 से उद्धृत ।

2- ट: ठ: ड: ढ: ण: गणासंज्ञा । छै पच चौ त्रय दू कल यथा ।।
छन्द प्रभाकर-जगन्नाथप्रसाद भानु, पृ0 8

3- ल.ज.सि.चतुर्दश त0 छं0 सं0 55

4- जानौ मीतु म न, दासु भ य दोऊ,उदास जौ,
सतौ, रिपु सरौ होत मिलतौ जुगल है ।।
शब्द रसायन-सं0 डॉ0 जानकीनाथसिंह मनोज, पृ0 184

5- मगन नगन द्वै मित्र हैं भगन यगन भृत जान ।
सगन रगन द्वै सत्रु हैं जगन तगन सम जान ।।
गुरुमुखी लिपि में उपलब्ध हिन्दी रीति-काव्य-डॉ0 ईश्वरसिंह,पृ0 327से उद्धृत ।

6- मगण नगण ये मित्र हैं, भगण यगण ये दास ।
उदासीन जत जानिये,रस रिपु करत विनास ।
छन्द प्रभाकर-जगन्नाथप्रसाद भानु पृ0 109

मात्रिक छन्द :

कुँवरकुशल कृत लखपतिजससिन्धु के उत्तरार्द्ध में मात्रिक छन्दों का वर्णन मिलता है। कुँवरकुशल ने 43 प्रकार के मात्रिक छन्दों को लक्षण तथा उदाहरण सहित विवेचित किया है। इनके छन्दों को बताने से पूर्व छन्द के गणितात्मक पक्ष को भी लिया है। पंच मात्रिक गण के भेदों की संख्या का विस्तृत वर्णन किया है। मात्रा के उदिष्ट, मात्रा नष्ट, मात्रा-मेरु, मात्रा-पताका, मात्रा-मर्कटी, मात्रा प्रभा का भी विस्तृत रूप से विवेचन किया है।

कुँवरकुशल के द्वारा प्रस्तुत छन्दों में से कुछ प्रमुख मात्रिक छन्द इस प्रकार हैं -

दोहा- कुँवरकुशल दोहे का लक्षण इस प्रकार देते हैं -

पहिले तेरह मत पढि दूजै ग्यारह देखि।
ऐसे उत्तरदल यहै ये दोहा अवरेखि ।।[1]

'प्राकृत पैंगलम' के अनुसार इसके विषम चरणों में तेरह और सम चरणों में ग्यारह मात्रायें निबद्ध होती हैं। तुक व्यवस्था केवल सम चरणों(स्रग्ध) में पाई जाती है। प्राकृत पैंगलम में इनकी मात्रिक गण व्यवस्था विषम चरणों में 6+4+3 और सम चरणों में 6+4+1 मानी गई है।[2] छन्द:शास्त्री नंदिताढ्य इसे दूहा कहते हैं और पादान्त लघु ध्वनित को गुरु मानकर इसका लक्षण 14, 12: 14, 12 मात्रायें मानते हैं।[3] हेमचन्द्र भी सम पदों में 12 तथा विषम में 14 मात्रायें मानते हैं और इसे दोहक नाम देते हैं।[4] कविदर्पणकार ने सर्वप्रथम दोहक माना और

1- ल.ज.सिं0 चतुर्थ त.छं0 सं0 134
2- छक्कलु चउक्कलु तिण्णि कलु एम परि विसम पअंति।
राम पाअहि अंतिक्ककलु ठवि दोहा णिब्भंति ।।
प्राकृत पैंगलम(भाग-2)डा0 भोलाशंकर व्यास, पृ0 541 से उद्धृत।
3- चउदह मत्ता दुन्नि पय, पढमइ तइयइ हुंति।
बारहमत्ता दोचलण, दूहा लक्खण कंति ।। वही, पृ0 543 से उद्धृत।
4- समे द्वादश ओजेचतुर्दश दोहक: छन्दोनुशासन, पृ0 206

13, 11, 13, 11 मात्रायें बताई।[1] इसके पश्चात प्राकृत पैंगलम् तथा छन्दःकोष[2] में यही लक्षण मान्य रहा।

हिंदी रीतिकालीन आचार्यों में केशवदास[3] देव[4] तथा भिखारीदास[5] ने भी इसी भाँति दोहे का लक्षण किया है। आधुनिक छन्दःशास्त्री जगन्नाथ प्रसाद भानु ने भी 13, 11 मात्रायें दोहे में मानी है।[6]

अतः इन लक्षणों के परिप्रेक्ष्य में देखते हैं तो कुँवरकुशल द्वारा किया गया लक्षण परंपरा का अनुमोदन करता है। कुँवरकुशल ने दोहे का उदाहरण इस प्रकार किया है -

कच्छधनी लखपति कुंवर रावनंद जगरूप ।।
बड़ सुबस बरबंड बहु: भुव के मानत भूप ।।[7]

1- प्राकृत पैंगलम(भाग-2)डॉ0 भोलाशंकर व्यास, पृ0 545 से उद्धृत।

2- तेरह मत्ता विसम पइ, सम ग्यारह मत्त।
अड़यालीस मत्त सवि, दोह छंद निरुत्त ।। वही, पृ0 545 से उद्धृत।

3- प्रथम पाद तेरह कला दूजें ग्यारह आनि।
तीजें तेरह जानियै चौथें ग्यारह जानि ।।
केशवदास ग्रंथावली(भाग-2)सं0 श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 450

4- ग्यारह सम, तेरह विषम, कलगल दहैं दहलंत।
शब्दरसायन-सं0 डॉ0 जानकीनाथसिंह मनोज पृ0 217

5- तेरह ग्यारह तेरहै, ग्यारह दोहा चारू।
भिखारीदास(प्रथम खण्ड) सं0 विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 222

6- जान विषम तेरा कला, सम शिव दोहा मूल।
छन्द प्रभाकर, जगन्नाथप्रसाद भानु, पृ0 82

7- लखपति चतुर्शत, छं0 सं0 135

दोहे के भेद :

हेमचन्द्र ने दोहे के उपदोहक तथा अपदोहक नामक भेद माने हैं। इसके अतिरिक्त 11-13: 13-11 को कुसुमाकुलमधुकर[1] तथा 11, 13: 11, 13 मात्राओं वाले छन्द को विभ्रमविलसितवदन माना है।[2] हिन्दी रीति के आचार्यों ने दोहे के 23 भेदों का उल्लेख किया है। इनमें केशवदास ने तो 23 भेद ही बताये हैं।[3] देव ने किसी भेद का उल्लेख नहीं किया है। भिखारीदास ने दोही और दोहरा नामक केवल दो ही भेद बताये हैं।[4] जगन्नाथप्रसाद 'भानु' ने भी 23 भेद बताये हैं।[5] आचार्य कुँवरकुशल ने भी दोहे के 23 भेद बताये हैं। ये भेद निम्नलिखित हैं - भ्रमर, भ्रामर, सरभ, सेन, मंडूक, मर्कट, करभ नर, मराल, मदकल, पयधर, चल, वानर, त्रिकल, कछ, मच्छ, सार्दूल, अहि, बग्घ, बिडाल, सुनक, उंदर, सरप। इनमें से कुछ दोहों का लक्षणोदाहरण सहित विवेचन प्रस्तुत है -

भ्रमर- 27 अक्षर- 21 गुरु+6 लघु।

उदाहरण- देख्यो जाके देस मैं : नीको ऐसो न्याय।
        पूनीपावै हैं खता: संत रहैं अविवाय।।[6]

अहिवर- 43 अक्षर =5 गुरु + 38 लघु।

तरनि उदय गिर तपत जिम तिमि भुज लखपति भूप।
हरन अनयत मकरन तैं आतप ओज अनूप।।[7]

---

1 छन्दोऽनुशासन पृ.२०६

2- प्राकृत पैंगलम (भाग-2) डॉ0 भोलाशंकर व्यास, पृ0 544 से उद्धृत।

3- केशवदास ग्रंथावली, भाग-2 श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 450

4- भिखारीदास (प्रथम खण्ड) सं0 विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 223

5- छन्द: प्रभाकर, जगन्नाथप्रसाद 'भानु' पृ0 85

6- ल.ज.सिं0 चतुर्दश, त.छ0 सं0 143

7- वही- छन्द सं0 161

सुनक - 46 अक्षर - 2 गुरु + 44 लघु ।

सुरधर सुरगज सुरसरित, हिम गिर मुक्तनिहारि ।
रवि ससि लखिपति कुंवरकहि, सुभ तुव जस अनुसारि ।।[1]

कुँवरकुशल ने दोहे की जाति, दोहे का दोष तथा दोहे की रूप संख्या भी बताई है । दोहे की जातिइस प्रकार वर्णित हुई है -

द्वादस लघु ते द्विज कहौ वाइस क्षत्र विवेक।
वैसि वरनिवत्तीसलघु अवरजसुद्र अनेक ।।[2]

केशवदास ने भी इसी प्रकार दोहे की जाति बताई है ।[3]

<u>घत्ता :</u>

कुँवरकुशल ने इसका लक्षण इस प्रकार किया है -

पढहु चतु कल सात पय नगन सु अंत निहारि ।।
जानि लेहु यम चरन जुग यह घत्ता उर धारि ।।[4]

प्राकृत पैंगलम की भाँति ही यह लक्षण किया गया है । सात चतुर्मात्रिक गण+अंत में तीन लघु हैं । यति 10,8 और 13 मात्रा पर होती है । आभ्यन्तर

1- ल.ज.सिं. चतुर्दश, - छन्द सं0 164

2- वही- छन्द सं0 167

3- बारह लघु को बिप्र कहि क्षत्रिय बाइस जानि ।
बत्तिस लघु को बस है और सुद्र करि मानि ।।
केशवदास-ग्रंथावली (भाग-2) सं0 श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 451

4- ल.ज.सिं0, चतुर्दश, त.छन्द सं0 189

तुक भी विद्यमान है।[1] स्वयम्भूच्छन्दस् में चतुष्पदी(विषम पद 9 मात्रा, समपद14मात्रा) सम चतुष्पदी(12मात्रा), समचतुष्पदी(16मात्रा, 4 चतुर्मात्रिक गण, प्राय:भगण) तीन प्रकार के घत्ता का उल्लेख मिलता है।[2] कविदर्पणकार ने 9 प्रकार के घत्ता की ओर संकेत किया है।[3] हेमचन्द्राचार्य के अनुसार अपभ्रंश प्रबंध काव्यों के सर्गों के अंत में आनेवाले कडवक के अन्त में चतुष्पदी छन्द से भिन्न प्रयुक्त होनेवाला छन्द घत्ता कहलाता है।[4] इस घत्ता छन्द को एक वर्ग(अपभ्रंशकार तथा कविदर्पणकार है) चतुष्पदी तथा षाटपदी मानता है। परन्तु प्राकृत पैंगलम् में द्विपदी माना है। इसी का अनुसरण मध्ययुगीन काव्य परंपरा में भी हुआ।[5] केशवदास ने भी इसे द्विपदी छन्द ही माना है।[6] भिखारीदास भी दस आठ और तेरह मात्रायें आधे छन्द में मानते हैं।[7] जगन्नाथ प्रसाद भानु भी यही लक्षण देते हैं।[8]

1- पिंगल कइ दिट्ठउ, छंद उकिट्ठउ, घत्त मत्त बासट्ठि करि।
चउमत्त सत्त गण, बे विपाअ भण, तिण्णि तिण्णि लहु अंतधरि।।
पढम दह बीसामो बीए मत्ताइँ अट्ठाइँ।
तीए तेरह विरइ घत्ता मत्ताइँ बासट्ठि।।
प्राकृत पैंगलम्(भाग-2) डॉ0 भोलाशंकर व्यास, पृ0 430 से उद्धृत।

2- वही- छन्द सं0 435 से उद्धृत।

3- वही- छन्द सं0 435-36 से उद्धृत।

4- सन्ध्यादौ कडवकान्ते च ध्रुवं स्यादिति ध्रुवा ध्रुवकं घत्ता वा।
छन्दोऽनुशासन, पृ0 187

5- प्राकृत पैंगलम्(भाग-2) डॉ0 भोलाशंकर व्यास, पृ0 437

6- सात चतुष्कल आदि दै अंत तीन लघु देखु।
दुहूँ चरन केसव कला जग घत्ता अवलेखु।
केशवदास ग्रंथावली(भाग-2) सं0 श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 451

7- दसबसु तरह अर्ध में, समभिय घत्ता छंद।
भिखारीदास(प्रथम खण्ड) सं0 विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 234

8- दीजे घत्ता इकतिस मत्ता है, नौ तेरा अन्तहिं नगन।
छन्द: प्रभाकर -जगन्नाथप्रसाद भानु पृ0 89

कुँवरकुशल ने भी इस छन्द को द्विपदी छन्द मानकर 'प्राकृत पैंगलम्' की परंपरा का अनुसरण किया है, सात चतुर्थ मात्रायें अर्थात् 28 और अन्त में एक नगण अर्थात् 28+3 =31 मात्रायें प्रति पद में पाई जाती हैं। कुँवरकुशल द्वारा प्रस्तुत उदाहरण में भी 10,8 पर तुकान्तयोजना मिलती है और दोनों पदों में 10,8,13 पर यति भी विद्यमान है। देखिये -

सुख सागर संकर, निरखि निरंतर, गवरि नारि संसार गुर ।।
चन्दा सिर चित हर, रूंड गरैं धर, भूखिल बिन भंडार भर ।।[1]

पद्धरी :

कुँवरकुशल द्वारा प्रस्तुत पद्धरी का लक्षण इस प्रकार है -

मत्ता सोरह पय मिली जगन अंत मह जानि ।
पाय बंद यों पद्धरी बरनै कुंवर बखानि ।।[2]

इस छन्द का सर्वप्रथम उल्लेख नन्दिताढ्य के 'गाथा लक्षण' में मिलता है परन्तु वहाँ पर अंत में 'जगण' की व्यवस्था पर बल नहीं दिया गया है।[3] स्वयम्भू ने चार चतुष्कल की गणव्यवस्था के अनुसार इसे 'पद्धडिआ' कहा।[4] हेमचन्द्र भी

1- ल.ज.सिं0, चतुर्थ छन्द सं0 190

2- वही- पृ0 227

3- सोलस मत्ताउ जहिं पउ दीसइ। अक्खरमत्तु न किंपि गवेसिइ।।
पायउ पायउ जमकविसुद्धउ। पद्धडिय तहिं छंद पसिद्धउ ।।
प्राकृत पैंगलम्(भाग-2) डॉ0 भोलाशंकर व्यास, पृ0 458 से उद्धृत।

4- सोलहमत्तं पाआउलअं। छच्चउ सविरइअं संकुलअं ।।
तं चेअ चआरचउक्कं। तं जाणसु पद्धडिआ धुवअं ।।
वही, पृ0 458 से उद्धृत।

'पद्धडिका' का लक्षण हर चरण में केवल चार चतुष्कल का होना मानते हैं।[1] इनके द्वारा दिये गये पद्धरी के उदाहरण में अंत्यान्त में भगण तथा जगण मिलता है।[2] परन्तु अपभ्रंश काव्य परंपरा में ही जगण की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। इसी कारण 'प्राकृत पैंगलम्' में पद्धरी के प्रत्येक चरण में चार चतुर्मात्रिक गणों की रचना की जाती है, जिनमें अंतिम चतुष्कल पयोधर(ISI) जगण होना आवश्यक है।[3] हिन्दी में यही लक्षण निबद्ध किया गया। हिन्दी रीतिकालीन आचार्यों में केशवदास[4] भिखारीदास[5] और आधुनिक छन्दशास्त्री भानु[6] ने भी 'जगण' की उपस्थिति स्वीकार की है। परन्तु केशवदास ने तीन चतुष्कल माने हैं।

1- चीः पद्धडिका ।। चगण चतुष्कं पद्धडिका ।
छन्दोनुशासन, पृ0 211

2- परगुणगहणु सदोसपयासणु, महुमहुरक्खरहिं अमिअमोसिणु ।
उवयारिणा पडिकिउवेरिअणाहं, इअ पद्धडी मणोहर सुअणाहं ।।
वही- पृ0 211

3- प्राकृत पैंगलम्(भाग-2) डॉ0 भोलाशंकर व्यास, पृ0 458

4- प्रथम चतुष्कल तीन करि एक जगन दै अंत ।
केशवदास ग्रंथावली(भाग-2)सं0 श्री विश्वनाथप्रसादमिश्र, पृ0 453

5- सोरह सोरह चहुँ चरन, जगन एक दै अंत ।
भिखारीदास(प्रथम खण्ड) सं0 विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 199

6- वसु वसु कल पद्धरि लेहु साज, सेवहु संतत संतन समाज ।
छन्दः प्रभाकर, जगन्नाथप्रसाद 'भानु' पृ0 47

इस दृष्टि से हम देखते हैं कि कुँवरकुशल का पद्धरी का लक्षण प्राकृत पैंगलम् के अनुसार है।

गगनांग :

कुँवरकुशल गगनांग का लक्षण इस प्रकार देते हैं -

मन सुध धरहु मत्त पाय, प्रति यामत पचीस हैं।
द्वादस त्रोदस बिरति दुबेह क्वरन सुबीस हैं।।
प्रथमहि मत्त च्यारि आनये कवि कहतु उजास हैं।
बांध्यौ बरनि सकल बुध, किय गुर अंत प्रकास हैं।।[1]

कुँवरकुशल ने इस छन्द में 25 मात्रायें होनी स्वीकार की है जिनमें 12, 13 पर यति है, प्रारंभ में चतुर्मात्रिक गण हो अन्त में गुरू हो।

प्राकृत पैंगलम् के अनुसार इसके हर चरण में 25 मात्रायें इस तरह नियोजित की जाती हैं कि वे 5 गुरु और 15 लघु अक्षरों (20 वर्णों) में व्यवस्थित होती है। इसके प्रत्येक चरण का प्रथम गण चतुर्मात्रिक होना चाहिए और प्रत्येक पादांत में हीर की तरह ही 15 होना चाहिए।[2] दामोदर के वाणी भूषण में 25 मात्राओं के 20 वर्णों की व्यवस्था नहीं मिलती। उनके अनुसार इसके आदि में षाटकल गण और अंत में रगण (ऽ।ऽ) होना जरूरी है, बीच के गणों की व्यवस्था कैसी भी हो सकती है। इस छन्द में 12, 13 मात्रा पर यति पाई जाती है।[3] आधुनिक

1- ल.ज.सिं0 चतुर्दश, तरंग, छन्द सं0 242

2- प्राकृत पैंगलम् (भाग-2) डॉ0 भोलाशंकर व्यास, पृ0 495 से उद्धृत।

3- षाटकलमादौ विरचय शेषे रगणविभूषितं,
मध्ये नियमविहीनं द्वादशके यतिसंगतम्।
फणिपतिपिंगलवर्णितं कविकुलहृदयरंजनं,
पञ्चाधिकविंशतिकलवृत्तमिदं गगनांकम्।।

वही, पृ0 496 से उद्धृत।

हिन्दी रीतिकालीन आचार्य भिखारीदास ने भी 25 मात्राओं में 5 गुरु मात्राओं का होना गगनांग छन्द में स्वीकार किया है।[1] आधुनिक छन्द: शास्त्री भानु ने गगनांग में 16,9 पर यति मानी है और अंत में रगण के आने की बात कही है।[2]

इन लक्षणों के परिप्रेक्ष्य में कुँवरकुशल द्वारा दिये गये लक्षण का परीक्षण करते हैं तो यह वाणीभूषण के लक्षण के निकट आता है। वाणीभूषण की भाँति प्रारंभ में षाटकल गण, अन्त में रगण तथा 12,13 पर यति मिलती है। यदि 'प्राकृत पैंगलम्' के लक्षण की दृष्टि से देखें तो वह भी यहाँ दृष्टिगत होता है। प्राकृत पैंगलम् के अनुसार प्रारम्भ में चतुकल अंत में (ऽ।ऽ) तथा 5 गुरु और 20 लघु भी मिलते हैं। प्राकृत पैंगलम् का लक्षण अंतिम पंक्ति को छोड़कर शेष सारे छन्द में ठीक मिलता है। अंतिम पंक्ति में भी केवल 5 गुरु के स्थान पर छः गुरु मिलते हैं। इनमें से अंत अथवा 'प्रकास' में से 'अं' अथवा 'प्र' की एक मात्रा गिन लेने से मात्रायें पूरी हो जाती हैं, अन्यथा 26 मात्रायें हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त 'भानु' के द्वारा दिये गये लक्षण के अनुसार 16,9 पर भी यति मिलती है। कुँवरकुशल ने गगनांग छन्द का अलग से उदाहरण नहीं दिया है। लक्षण ही उदाहरण बन गया है।

झूलना :

कुँवरकुशल के अनुसार इसमें 10,10,10,7 के अनुसार कुल 37 मात्रायें आती हैं -

'प्रथम दस दीजिय, अवरु दस कीजिय, पुनिहिं दस सात तइ बिरति ठावैं।
देखि करि बिबिह कल सात औ तीस कलगूंथी पय झूलनां नाग गावैं।।[3]

1- सौ कल चारि पचीस को, छंदजाति गगनंग।
पग पग पाँचै गुरु दिये, अतिसुभ कह्यो भुजंग।।
भिखारीदास (प्रथम खण्ड) सं0 श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 207

2- सौरह नौकल धरि कवि गावत नव गगनांगना।
प्रभु प्रसाद व्यापत न जरातऊ हरि पद रंगना।।
छन्द: प्रभाकर-जग्गनाथप्रसाद 'भानु' पृ0 63

3- ल.ज.सिं0, चतुर्दश, त. छन्दसं0 246

अपभ्रंश परंपरा में झूलना छन्द का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता परन्तु 37 मात्राओं वाला रथ्यावर्णक नामक द्विपदी छन्द मिलता है जिसमें 12,8,17 पर यति पाई जाती है। इसमें एक षाण्मात्रिक गण, सात चतुर्मात्रिक गण और अन्त में त्रिमात्रिक गण मिलता है। इसी द्विपदी में 14,8,15 पर यति कर देने से चच्चरी तथा 16,8,13 पर यति कर देने से अभिनव छन्द होता है।[1] यही छन्द प्राकृत पैंगलम् में व्यवस्थित होकर पंचमात्रिक बन कर झूलना छन्द के रूप में मिलता है।[2] हिंदी रीतिकालीन आचार्य भिखारीदास ने इसे मात्रिक दण्डक छन्द कहा है और इसे चतुष्पदी छन्द माना है।[3] मुक्तक वर्णिक छन्दों के अन्तर्गत भी झुलना छन्द का संकेत किया है- जिसके प्रत्येक चरण में 24 वर्ण होते हैं तथा अपनी इच्छानुसार कहीं भी सगण, जगण की योजना करते हुए अन्त में दो गुरु (SS) का होना बताते हैं।[4] जगन्नाथप्रसाद भानु ने भी दो प्रकार के झूलना का संकेत किया है जिसमें से एक में 7,7,7-5 तथा अंत में SI की योजना की जाती है।[5] और दूसरे प्रकार के झूलना

1- षाण्मात्रश्चतुर्मात्रिसप्तकं त्रिमात्रश्च रथ्यावर्णकम्। ठजैरिति द्वादशभिरष्टभिश्च यतिः। ढजैरिति चतुर्दशभिरष्टभिश्च यतिश्चेत्तदा तदेव रथ्यावर्णकं चच्चरी। तजैरिति षोडशभिरष्टभिश्च यतिश्चेत्तदा तदेव रथ्यावर्णकमभिनवम्।।
छन्दोनुशासन, पृ0 224

2- प्राकृतपैंगलम् (भाग-2) डॉ0 भोलाशंकर व्यास, पृ0 440

3- दसदसदस मुनि जाति चरन, छंद झूलना तत्त।
दुकल सिरहु रचै सैंतिसौं, बानतालीसौ मत।।
भिखारीदास (प्रथम खण्ड) सं0 विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 233

4- कहुँ सगन कहुँ जगन है, चौबिस बरन प्रमान।
गुरु द्वै राखि तुकंत में, बरन झुल्लना ठान।।
वही, पृ0 271

5- छन्दः प्रभाकर-जगन्नाथप्रसाद भानु पृ0 65

छन्द में सैंतीस मात्रायें होती हैं और अंत में यगण होता है। इसमें यति 10,10,10,7 पर होती है।[1]

कुँवरकुशल ने जो लक्षण दिया है इसमें आभ्यन्तरिक तुक दीजिय-कीजिय तथा कल-कल विद्यमान है। इसके अतिरिक्त श्री माधव त्रि0 पटवर्धन ने जो सात पंचकल गणों के बाद एक गुरु की योजना बताई है[2] वह भी कुँवरकुशल द्वारा दिये गये उदाहरण में देखने को मिलती है -

सहस मदमत्तगज, लाख धुज फरहरिय, साहि बिनि जंग खेलत गिंदु ।।
जो घलु किले तउअह, रंगनलउ गाजह, करतलह कौं न सरि जवनहि दूदू ।।[3]

सिंहविलोकित :

कुँवरकुशल के अनुसार इस छन्द में चार विप्रगण(1111) अथवा चार सगण होने चाहिए इस तरह कुल सोलह मात्रायें प्रत्येक चरण में होती हैं -

पय बिप्र अरु गन सगन जु दुव विमल पेखि पाय प्रतिचार ।
सोरह पय प्रति मत्त सजि पाय यह प्रस्तार ।।[4]

1- सैंतिस यगन यति, दोषा दस दोषा मुनि,
जानि रचिये द्वितीय झूलना को ।।
छन्द: प्रभाकर, जगन्नाथप्रसाद भानु पृ0 76

2- प्राकृतपैंगलम्(भाग-2)डॉ0 भोलाशंकर व्यास, पृ0 444 से उद्धृत ।

3- ल.ज.सिं0, चतुर्दश त.छन्द सं0 247

4- वही- छन्द सं0 267

यह लक्षण 'प्राकृत पैंगलम्' के अनुसार है लेकिन संक्षिप्त है। प्राकृत पैंगलम् में बताये गये जगण(ISI), भगण(SII) तथा कर्ण(SS) के वारण का निर्देश कुँवरकुशल ने नहीं बताया है।[1] हिन्दी रीतिकालीन आचार्यों में केशवदास द्वारा 'रामचंद्रिका' में तो मिलता है लेकिन 'छन्दमाला' में इसका विवेचन नहीं किया गया है। रीतिकालीन आचार्य श्रीधर ने भी 'छन्दविनोद' में चार गणों(सगण अथवा सर्वलघुचतुष्कल) के विधान का उल्लेख किया है।[2] भिखारीदास ने शब्दश: इसी भाँति लक्षण प्रस्तुत किया है।[3] इन लक्षणों के परिप्रेक्ष्य में कुँवरकुशल द्वारा दिये गये लक्षण को देखते हैं तो वह पर्याप्त समानता लिए हुए दृष्टिगत होता है। परन्तु उदाहरण में सर्वत्र सगण की ही योजना की है, कहीं पर सर्वलघुचतुष्कल की योजना नहीं मिलती। देखिए -

परताप लख्यपति को परखैं, कर दौड़त सत्रु दरीदर सूँ सैं।
जलहीन भई सरिता सिगरी, अरि की ललनां <u>दृग</u> अंसुवानि भरी ।।[4]

<u>नीसानी :</u>

कुँवरकुशल ने इस छन्द में ग्यारह गुरु तथा एक लघु मात्राओं(23 मात्रायें) की व्यवस्था की ओर संकेत किया है -

---

1- गण विप्प सगण धरि पअह पअं, भण सिंह अलोअण छंद वरं।
गुणिगण मण बुज्झहु णाअ भणा, णहि जगणु ण भगणु ण कण्ण गणा।।
प्राकृत पैंगलम्(भाग-2)डॉ0 भोलाशंकर व्यास, पृ0 469 से उद्धृत।

2- चारि सगन कै दुज चरन, सिंहविलोकत एहु।
चरन अंत अरु आदि के, मुक्त(क) पद्यास देहु ।।
प्राकृतपैंगलम्(भाग-2)डॉ0 भोलाशंकर व्यास, पृ0 472 से उद्धृत।

3- चारि सगन के द्विज चरन, सिंहबिलोकित एहु।
चरन अंत अरु आदि कै, मुक्तपद्यास देहु ।।
भिखारीदास(प्रथम खण्ड)सं0 विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 227

4- ल.ज.सिं0, चतुर्दश, त.छन्द सं0 268

ये निसानी छंद में ग्यारोही बंका येका रेखा पाय में यामेंना संका ।
कैसैं मता भरो पायैं यौं पावो अैसी सांची रीति सों नीसानी गावो ।।[1]

रीतिकालीन आचार्य केशवदास, देव, भिखारीदास प्रभृति ने भी इस छन्द का उल्लेख नहीं किया है । इस छन्द का उल्लेख गुजराती के जानी बिहारीलाल[2] तथा रणछोड़राय उदयराम[3] ने किया है । इसके अतिरिक्त गुरुमुखी लिपि के आचार्य हरिरामदास[4] ने भी इस नीसानी छन्द का उल्लेख किया है । कुँवरकुशल की भाँति जानी बिहारीलाल तथा हरिरामदास ने तो मात्रिक छन्द बताया है ~~लेकिन रणछोड़राय ने तो मात्रिक छन्द बताया है~~ लेकिन रणछोड़राय ने इसे वर्णवृत्त कहा है और इसके लक्षण में तीन मगण और एक तगण का होना बताया है ।

कुँवरकुशल ने इस छन्द का उदाहरण निम्नलिखित दिया है -

राजै लाखा राजवी सामा को टीको, बाजै साखा चांद की दानी है नीको।
सामा सोचो जंग में कान्हा को नाती, साले सत्रु कौ सदा जाकी यों काती।।[5]

गाथा छन्द :

कुँवरकुशल ने गाहू से लेकर संधान तक को इस प्रकार लक्षणबद्ध किया है -

---

1- ल॰ज॰सिं॰ चतुर्दश॰ त॰ ~~वही~~- छन्द सं0 303

2- मात्रिक छन्दों का विकास-डॉ0 शिवनन्दनप्रसाद, पृ0 96

3- रणपिंगल-रणछोड़राय उदयराम, पृ0 315

4- गुरुमुखी लिपि में उपलब्ध हिन्दी रीतिकाव्य-डॉ0 ईशरसिंह, पृ0 329

5- ल.ज.सिं0, ~~पंचदश~~ चतुर्दश त.छं0 सं0 305

गाहू चोपन मतगति गनि सत्तवन गाह ।
गाहा पलटि विगाह कै और साठि उगाह ।।
गाहेनी बासट गनि पलटि सिंहनी पेखि ।
कल चउसठि षांधान कहि उदाहरन अरेखि ।।[1]

पुन: इन सभी के लक्षण यति सहित दिये हैं । प्राकृत पैंगलम् में भी इसी प्रकार का वर्णन मिलता है । कुँवरकुशल के इस वर्णन का आधार प्राकृत पैंगलम् ही रहा है ।[2] हेमचन्द्र के छन्दोनुशासन में गाथा का वर्णन विपुला, मुखविपुला, चपला, जघनचपला, महाचपला, पृथ्या, महाविपुला इत्यादि वर्गों के अंतर्गत विभाजित करके किया गया है ।[3] हिंदी में केशवदास ने गाथा का बहुत ही संक्षिप्त वर्णन किया है ।[4] इसके अतिरिक्त देव[5] तथा भिखारीदास[6] ने भी अधिक विस्तृत वर्णन नहीं किया है ।

कुँवरकुशल ने गाथा के छब्बीस भेद भी बताये हैं जो इस प्रकार हैं -लक्ष्मी, रिद्धी, बुद्धि, लज्जा, बिज्जा, खमा, देवी, धात्री, चुन्नी, छाया, कान्ती, महमाई, कीरति, सिद्धि, माननि, रामा, गाहनी, विश्वा, सोभा, हरिनी, चक्री, सारसी, कुररी, सिंघनी, हंसी, बिबुधनी । कुँवरकुशल के इस वर्णन का आधार केशवदास की छन्दमाला रहा है । केशवदास ने सभी का उल्लेख करके केवल लक्ष्मी का लक्षण किया है । परन्तु कुँवरकुशल ने इन सभी का लक्षण देते हुए उदाहरण भी दिये हैं । साथ ही गाहा के गणितात्मक पक्ष पर भी विचार किया है । गाहा का प्रस्तार, नष्ट

1- ल. ज. सिं., पंचपदश ते. छं. सं. ।
2- प्राकृत पैंगलम् (भाग-2) डॉ0 भोलाशंकर व्यास, पृ0 415
3- छन्दोनुशासन, पृ0 128-142
4- केशवदास-ग्रन्थावली (भाग-2) सं0 श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 449
5- शब्द-रसायन, सं0 डॉ0 जानकीनाथसिंह मनोज पृ0 215-17
6- भिखारीदास (प्रथम खण्ड) सं0 विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 229-33

मेरू, पताका, मर्कटी इत्यादि का विस्तृत विवेचन किया है। तथा गाहा के सामान्य पक्ष जैसे गाहा की जाति, गाहा की वय, गाहा का अंश, गाहा के वस्त्र, गाहा-वर्ण, गाहा-आभूषण, गाहा-तिलक, गाहा-तोल, गाहा-पद चाल इत्यादि पर भी विस्तृत रूप से अपने विचार प्रकट किए हैं। इस प्रकार का वर्णन केशवदास, देव तथा भिखारीदास प्रभृति आचार्यों ने भी नहीं किया है यद्यपि केशवदास तथा भिखारीदास ने तो छन्द पर एक स्वतंत्र ग्रन्थ की रचना भी की थी तथापि इन सब का वर्णन नहीं किया है। जबकि कुँवरकुशल ने लक्षण ग्रंथ के अंतर्गत ही छन्द को समाहित करते हुए छन्द सम्बंधी बहुत ही विस्तृत जानकारी दी है। अत: यहाँ कुँवरकुशल की महत्ता स्पष्ट हो जाती है। यद्यपि देव ने भी छन्द का निरूपण लक्षण-ग्रंथ के अंतर्गत ही किया है तथापि कुँवरकुशल की भाँति इतने अधिक पक्षों पर विचार नहीं किया है। अत: इससे कुँवरकुशल की विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति का पता चलता है। क्योंकि जिस किसी भी अंग का वर्णन करना चाहा है समग्र दृष्टि से समग्र पक्षों को उद्घाटित किया है ताकि पाठक उनसे अच्छी प्रकार परिचित हो सकें, और [illegible] तत्सम्बंधी सम्पूर्ण जानकारी व ज्ञान प्राप्त कर सकें। अत: इस दृष्टि से कुँवरकुशल रीतिकालीन लक्षणबद्ध आचार्यों की परम्परा में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लेते हैं।

वर्णिक छन्द :

कुँवरकुशल ने 110 वर्णिक वृत्तों का निरूपण किया है। छन्दों के इन विवेचनात्मक पक्ष से पूर्व इसके गणितात्मक पक्ष को भी स्पष्ट किया है जिसके अन्तर्गत वर्ण-प्रस्तार, वर्ण-नष्ट, वर्ण-उद्दिष्ट, वर्ण-मेरू, वर्ण-पताका, वर्ण-मर्कटी को लिया है। वृत्त के तीनों प्रकार सम वृत्त, अर्द्धसम वृत्त तथा विषम वृत्त को भी उल्लिखित किया है। यहाँ पर अब हम कुँवरकुशल द्वारा वर्णित वर्णिक छन्दों में से कुछ छन्दों का लक्षणोदाहरण सहित विवेचन करेंगे -

उक्तावर्ग :

श्री छन्द: - इसमें चारों पदों में एक-एक करके गुरु आते हैं -

इकु इकु गुरु कै इहाँ च्यारि पाय चितलाय ।
उक्ता प्रकार भेद यह, छबि श्रीछंद सुहाय ।।[1]

छन्दोऽनुशासन[2] तथा प्राकृत पैंगलम्[3], में भी यही लक्षण दिया है। हिंदी रीतिकालीन आचार्यों में केशवदास[4] तथा भिखारीदास[5] एवं आधुनिक छन्दःशास्त्री जगन्नाथप्रसाद भानु[6] ने भी श्री छन्द की दो मात्रायें मानी हैं। कुँवरकुशल ने केवल एक ही शब्द नहीं दिया है वरन् चार शब्दों का एक छन्द बनाकर दिया है। जैसे -

'राधा रानी'। 'नीकी बानी'।'[7]

अनुष्टुप् वर्ग :

कुँवरकुशल ने इस वर्ग के अंतर्गत विद्युन्माला, प्रमाणिका, मल्लिका, तुरंग, कमल इत्यादि छन्दों का लक्षणोदाहरण सहित विवेचन किया है। जिसमें प्रमाणिका छन्द का लक्षण एवं उदाहरण द्रष्टव्य है -

---

1- ल.ज.सिं0, छं0 सं0 655 0

2- उक्तायां जातौ गुरुरेकाक्षर: पाद: स च श्रीनामा। छन्दोऽनुशासन, पृ0 11

3- प्राकृतपैंगलम्(भाग-2) डॉ0 भोलाशंकर व्यास, पृ0 404 से उद्धृत।

4- दीर्घ एक ही बरन कौ दीजै पद सुखकंद।
मंगल सकल निधान जग नाम सुनहु श्रीछंद ।।
केशवदास-ग्रंथावली(भाग-2) सं0 श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 431

5- भिखारीदास(प्रथम खण्ड) सं0 विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 182

6- छन्द:प्रभाकर-जगन्नाथप्रसाद भानु पृ0 115

7- ल.ज.सिं0 छं0 सं0 655-56

प्रमाणिका :

कुँवरकुशल के अनुसार इस छन्द में लघु गुरु की चार बार पुनरावृत्ति करके आठ अक्षर आते हैं -

लगो लगो लगो लगो सुनै जु सैस मैं षगो ।
कविद रूप यों कढो प्रमानिका सही पढो ।।[1]

क्षेमेन्द्र ने भी अपने सुवृत्ततिलक में इसी भाँति प्रमाणिका छन्द का लक्षण निबद्ध किया है ।[2] हेमचन्द्र[3], केदारभट्ट[4] तथा प्राकृत पैंगलम् कार[5] ने इस छन्द का लक्षण ज र ल गा कहकर दिया है । हिन्दी रीतिकालीन आचार्यों में केशवदास ने प्रमाणिका छन्द को सप्ताक्षर के अंतर्गत मानते हुए इसके प्रारंभ में गुरु तथा जगण रगण की योजना बताई है ।[6] देव[7] तथा भिखारीदास[8] और भानु[9] ने भी जगण रगण

1- ल०क०सि० ~~वही~~- छन्द सं० 649

2- लघोर्गुरोश्च विच्छित्त्यां यत्राष्टान्त्यं संगति । सुवृत्ततिलक, पृ० 10

3- ज्रौ लगौ प्रमाणी ।। छन्दोऽनुशासन, पृ० 22

4- जरौ लगौ । वृत्तरत्नाकर, पृ० 35

5- प्राकृत पैंगलम् (भाग- 2) डॉ० भोलाशंकर व्यास, पृ० 425 से उद्धृत ।

6- आदि एक गुरु सोभिजै जगन रगन तिन माह ।
कीनी प्रगट प्रमानिका सप्तबर्न कबि नाह ।।
केशवदास-ग्रंथावली (भाग-2) सं० श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० 433

7- ज र ल ग (।ऽ।ऽ।ऽ।ऽ)
शब्दरसायन-सं० डॉ० जानकीनाथसिंह मनोज पृ० 193

8- प्रमाणिका धुज चारि को ⊦ ⊦ + । "
भिखारीदास (प्रथम खण्ड) सं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० 239

9- जरा लगा प्रमाणिका ।
छन्द: प्रभाकर-जगन्नाथप्रसाद भानु , पृ० 124

तथा लघु गुरु की योजना इस छन्द में आती है। अत: हम कह सकते हैं कि कुँवरकुशल द्वारा किया गया लक्षण दामेन्द्र द्वारा प्रस्तुत लक्षण की भाँति है। चार बार लघु गुरु की योजना(।ऽ।ऽ।ऽ।ऽ) करते हुए भी जगण रगण तथा लघु गुरु ही निबद्ध होता है।

कुँवरकुशल द्वारा किया गया प्रमाणिका का उदाहरण इस प्रकार है -

'कितीक बात मैं सुनी धरी न कान मैं धुनी।
धारी धुस्याल धूबरी करी निहाल कूबरी ।।[1]

त्रिष्टुप वर्ग :

इस वर्ग में ग्यारह अक्षर वाले छन्द आते हैं। कुँवरकुशल ने इस वर्ग के अंतर्गत बीलरूपी, सुमुखी, सालनी, दमनक, सेनिका, मालतीमाला, इन्द्रवज्जा, उपेन्द्रवज्जा तथा उपजाती छन्द वर्णित किए हैं जिनमें से इन्द्रवज्जा तथा उपेन्द्रवज्जा का लक्षण तथा उदाहरण प्रस्तुत है -

इन्द्रवज्जा :

आद्दं जु यामें दुत गन्न धावें, अंत नरिंदो जुगहर आवें।
बोले फनिंदा गुरु ग्यानीबानी, पंक्ती यहै इन्द्र बज्जाप्रमानी ।।[2]

हलायुधकृत छन्द: सूत्रम्[3] में क्षेमेन्द्रकृत सुवृत्तितिलक[4], हेमचन्द्रकृत छन्दोनुशासन[5] केदारभट्ट कृत वृत्तरत्नाकर[6] तथा प्राकृत पैंगलम्[7] में भी यही लक्षण किया गया है। हिंदी

1- ल ज सिं0, छं0 सं0 751
2- वही- छन्द सं0 805
3- इन्द्रवज्रा तौ जगौ ग् । छन्द:सूत्रम्, पृ0 96
4- तकाराभ्यां जकारेण युक्तं गुरुयुगेन च । सुवृत्ततिलक, पृ0 15
5- तौ जो गाविन्द्रवज्रा । छन्दोनुशासन, पृ0 35
6- स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ ग: । वृत्तरत्नाकर, पृ0 40
7- प्राकृत पैंगलम्(भाग-2) डॉ0 भोलाशंकर व्यास, पृ0 405 से उद्धृत

के आचार्यों में केशवदास[1], देव[2], भिखारीदास का भी यही विचार है।[3] भिखारीदास ने जगण के स्थान पर सगण लिखा है, परन्तु उदाहरण में जगण ही आया है सगण नहीं।[4] आधुनिक छन्द:शास्त्री भानु ने भी इन्द्रवज्रा छन्द में दो तगण जगण तथा दो गुरु की योजना स्वीकार की है।[5]

उपेन्द्रवज्रा :

कुँवरकुशल उपेन्द्रवज्रा में जगण, तगण जगण तथा दो गुरु की योजना निबद्ध करते हैं -

नरिंद यैकै सभैं सुहावैं, औ नरिंदो करैं सुहावैं।
कहै फनिंदा उपयेन्द्रवज्रा सबै कवि दाहि य माहु सज्जा ।।[6]

छन्द:सूत्रम्[7] में भी ज् तौ ज् गौ ग् ही निबद्ध किया गया है। सुवृत्तिलक[8]

1- आदि तगन द्वै जगन पुनि अंत देहु गुरु दोय ।।
केशवदास-ग्रंथावली (भाग-2) सं0 श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 436

2- तू तौ जगं गी।- + ।-।
शब्द रसायन-सं0 डॉ0 जानकीनाथसिंह मनोज, पृ0 194

3- तक्कार कर्नौ सगनो मगंनो। है इंद्रवज्रा वस एक बनो।
भिखारीदास (प्रथम खण्ड) सं0 विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 248

4- ऐरी बडो जो गिरि तें कहायो। सो चिपि पीको इनसौं बिरायो।
सो है अयानी मृदु जो कहरी। है इंद्रवज्रा मुसुकानि तेरी ।।
वही - पृ0 248

5- ताता जगौ गावहु इन्द्र वज्रा। छन्द प्रभाकर-जगन्नाथप्रसाद भानु पृ0 137

6- ल ज सिं0 छं0 सं0 807

7- छन्द: सूत्रम्- पृ0 97

8- जतजैर्गुरुयुग्मेन संसदुपलक्षितम्। सुवृत्तिलक-पृ0 16

छन्दोनुशासन[1] तथा प्राकृतपैंगलम[2] में भी इसी प्रकार का लक्षण किया है। हिंदी रीतिकालीन आचार्यों में केशवदास[3], देव[4], भिखारीदास[5] तथा आधुनिक छन्द: शास्त्री भानु[6] के भी लक्षण परंपरागत हैं। इस तरह कुँवरकुशल का लक्षण भी परंपरागत ही है। अन्तर केवल प्रस्तुतीकरण में है। जहाँ अन्य सभी आचार्यों ने गणों का स्पष्ट उल्लेख किया है वहीं कुँवरकुशल ने उक्त गण के सूचक शब्द को ही दिया है। कुँवरकुशल ने उपेन्द्रवज्रा का उदाहरण इस प्रकार दिया है -

भली करो हो जग मह भाइ सुहै निंदानै सब को सुहाइ।
इहां उहां दो भव की दिठाइ बडी करैगो बिधिवा बडाइ।।[7]

1- जतजा गावुपेन्द्रवज्रा। छन्दोनुशासन, पृ0 35

2- प्राकृत पैंगलम(भाग-2) डॉ0 भोलाशंकर व्यास, पृ0 405 से उद्धृत।

3- जगन तगन पुनि जगन करि द्वै गुरु अंत प्रकास।

केशवदास-ग्रंथावली(भाग-2) सं0 श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 436

4- शब्द-रसायन-सं0 डॉ0 जानकीनाथसिंह मनोज पृ0 195

5- भिखारीदास(प्र0खण्ड)-सं0 विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 248

6- जती जगैं गाय उपेन्द्रवज्रा।

छन्द:प्रभाकर- जगन्नाथप्रसाद भानु, पृ0 13

7- ल.ज.सिं0, छन्द सं0 808

सुन्दरी :

यह बारह अक्षर का छन्द है। कुँवरकुशल के अनुसार इसमें एक नगण दो भगण तथा अन्त में एक रगण आता है -

नगन और भकार जुँ नये सुगन अंतरसौं चउ पाउये ।
यह जुरीति कही षग कों अहि सुमुष्णी सुंदरि छंद करौ सही ।। [1]

'प्राकृत पैंगलम्' में भी यही लक्षण दिया गया है। [2] हिंदी रीतिकालीन आचार्यों में केशवदास ने सुन्दरी के अंतर्गत चार भगण की योजना स्वीकार की है। [3] जब कि केम [4], भिखारीदास [5] तथा भानु [6] ने 'प्राकृतपैंगलम्' की भाँति नगण, दो भगण तथा रगण की उपस्थिति मानी है। हमारे आलोच्य आचार्य कुँवरकुशल ने भी 'प्राकृत-पैंगलम्' के अनुसार सुन्दरी का लक्षण दिया है इसी को का द्रुतविलंबित भी कहते हैं। जैसाकि भिखारीदास ने भी संकेत किया है।

1- ल.ज.सिं० छन्द सं० 830

2- प्राकृत पैंगलम्(भाग-2) डॉ० भोलाशंकर व्यास, पृ० 405 से उद्धृत ।

3- चारि भगन को सुंदरी छंद छबीलो होय ।
केशवदास-ग्रंथावली(भाग-2) सं० श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० 437

4- शब्द-रसायन-सं० डॉ० जानकीनाथसिंह 'मनोज' पृ० 197

5- नगन भागनु भागनु रग्गना । चरन चारिहु सुंदरि सोभना ।
द्रुतबिलंबित याहि काउ कहै । बरन बारह 'दास' अचूक है ।।
भिखारीदास(प्रथम खण्ड) सं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० 249

6- नभभरी विधु भासन सुन्दरी ।
छन्द:प्रभाकर-जगन्नाथप्रसाद 'भानु' पृ० 153

दण्डक वर्ग :

कुँवरकुशल के अनुसार छब्बीस से अधिक अक्षर जिस छन्द में आते हैं उन्हें दण्डक कहा जाता है। इसमें प्रारंभ में दो नगण तथा बाद में सात रगण दिये जाते हैं। यह दण्डक का चण्डवृष्टि का प्रकार है -

'बरनै बरन छतीस लौं छंद अरघ सम सोधि।
तिन परते दंतिक कहै पिंगु लगै पर बोधि।।
छबीसजु ऊपर अबर बरनत है कवि बोल।
अबर नाम के छंद वह ते डंडक नहि तोल।।
उभ नगन तोआदि में सात रगन पुनि देहु।
चंड वृष्टि दंडक चलत ऐसे अहि किय येहु।।[1]

यहाँ पर चतुर्थ पंक्ति में 'ते डंडक नहि तोल' में नहि शब्द का प्रयोग नहीं होना चाहिए। क्योंकि दण्डक छब्बीस से अधिक अक्षर वाले छन्दों को कहते हैं। नहि के स्थान पर 'अहिं अथवा सहि' होना चाहिए तब लक्षण सही बन जाता है।

इसके पश्चात् चण्डवृष्टि में आगे एक रगण लगा देने से अर्ण दण्डक बन जाता है। इसी प्रकार क्रमश: एक एक रगण बढ़ाते हुए अर्णव, व्याल, जीमूत, लीला, दण्डक, दंडक, संख, अंबुज, दंडक बन जाते हैं -

'चंडवृष्टि आगे चतुर रगन येकु फिर रोपि।
तौ दूजौ दण्डक तहां अर्ण नाम आरोपि।।
अब सु अर्न आगे इहां रगन येक पुनि रेषि।
तब अर्णव अतानौ कुवर दण्डक नाम सुदेषि।।

1- ल.ज.सिं0 छन्द सं0 899, 900, 901

अनैव के आगे बहुरि रगन येक ठहराय ।
~~बहु दो आगैं व्याल के रगन येक कविराज ।~~
व्याल नाम बोलैं सुकवि दण्डक नाम दिषाय ।
बहु सों आगैं व्याल के रगन येक कविराज ।
जानिै तब जीमूत कों परगट कवि की पाज ।।
जानिै आगैं जीमूत कैं सुभ रगनों सुषदाय ।।
लीला दण्डक ललित ये परम नाम ये पाय ।।
लीला आगैं लहरि सौं पढ़ि इकु रगन पुनीत ।
दण्डक दण्डक नाम की पावत है परतीत ।।
दै दण्डक आगैं रगन संषनाम सुध होय ।
याकै आगैं इक रगन अंबुज दण्डक सोय ।। [1]

कुँवरकुशल ने इन सब दण्डकों के उदाहरण ग्रन्थ विस्तार के भय से नहीं दिए हैं। [2]

इसी क्रम का वर्णन छन्दोनुशासन[3] और वृत्तरत्नाकर[4] में भी मिलता है। प्राकृत पैंगलम् में शालूर(त न न न न न न न न लगा) तथा त्रिभंगी(न न न न न न स स भ म स गा) नामक दो दण्डकों का वर्णन मिलता है। [5] हिंदी में केशवदास ने अपनी छन्दमाला में केवल अनंगशेखर नामक दण्डक का लक्षणोदाहरण प्रस्तुत किया है। [6]

1- ल ज सिं0 छन्दसं0 903-909

2- उदाहरन सबके इहां बरनैं कहत बिचार ।
बढ़ै ग्रंथ यह भय बड़ौ तातैं ~~अल~~ ~~उचार~~ उचार ।। वही-छन्द सं0 912

3- छन्दोनुशासन, पृ0 91-94

4- वृत्तरत्नाकर, पृ0 71-74

5- प्राकृत पैंगलम् (भाग-2) - डॉ० भोलाशंकर व्यास - पृ 406

6- केशवदास-ग्रंथावली (भाग 2) सं0 श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 447

~~6- छन्द-रसायन-सं0 डा0 जानकीनाथसिंह 'मनोज' पृ0 208-11~~

देव ने चण्डवृष्टि, अर्णव, व्याल, प्रचितक, अशोक, पुष्प मंजरी, अनंगशेखर, वर्णदण्डक, जैसे नियत दण्डकों का वर्णन किया है।[1]

निष्कर्षत: हम कह सकते हैं कि कुँवरकुशल ने छन्द का सम्यक् रूप से विवेचन विश्लेषण प्रस्तुत किया है। छन्द के द्विविध भेद मात्रिक एवं वार्णिक के गणितात्मक पक्ष पर भी विस्तारपूर्वक विचार किया है। इसके अतिरिक्त सभी छन्द प्रकारों को लक्षणोदाहरण सहित प्रस्तुत किया है जिससे इनका छन्द-वर्णन अत्यंत ही विस्तृत हो गया है। इससे स्पष्ट है कि कुँवरकुशल ने छन्द को कितना महत्व प्रदान किया है। काव्य के लिए छन्द की पर्याप्त आवश्यकता होती भी है। 'लखपति-जससिन्धु' रीति ग्रंथों की परंपरा में छन्द वर्णन की दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त करता है। हम देख चुके हैं कि कुँवरकुशल ने 'लखपति जससिन्धु' के उत्तरार्द्ध में छन्द का विस्तार से वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त भी एक अन्य ग्रंथ 'गौड़ पिंगल' की भी रचना की है। अत: प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि कुँवरकुशल ने एक अन्य ग्रंथ की रचना क्यों की ? इसके पीछे कुँवरकुशल का छन्द को महत्व देने का दृष्टिकोण रहा होगा। यों भी कुँवरकुशल एक आचार्य थे। भुजनगर में स्थित 'ब्रजभाषा-काव्यशाला' एक ऐसी काव्यशाला थी जिसमें विद्यार्थियों को काव्य की दीक्षा दी जाती थी और काव्य-रचना करना सिखाया जाता था। काव्य-रचना करने के लिए छन्द सम्बंधी संपूर्ण ज्ञान का होना अत्यावश्यक है। इसलिए कुँवरकुशल ने छात्रोपयोगी संपूर्ण जानकारी देने के उद्देश्य से 'लखपतिजससिन्धु' के उत्तरार्द्ध में 'पिंगल' का वर्णन करने के उपरांत भी एक अन्य पृथक ग्रंथ की रचना की। इसके अतिरिक्त यदि जो त्रुटियाँ रह गई हों उन्हें दूर किया जा सके। इसके अतिरिक्त जहाँ अन्य रीतिकालीन आचार्य केवल अलंकार निरूपण तथा नायक-नायिका-भेद के वर्णन में ही लगे रहे वहीं कुँवरकुशल ने छन्द पर एक ग्रंथ का अधिकांश भाग तथा दूसरा संपूर्ण ग्रन्थ लिखा। इस तरह सब काव्यांगों में छन्द को सर्वाधिक महत्ता प्रदान की।

काव्य हेतु प्रयोजन :

कुँवरकुशल ने 'लखपति जससिन्धु' की चतुर्थ तरंग में काव्य सम्बंधी सामान्य जानकारी प्रस्तुत की है। अत: यहाँपर कुँवरकुशल द्वारा लखपतिजससिन्धु में निरूपित काव्य-लक्षण, काव्य-हेतु इत्यादि की चर्चा करेंगे -

1 छन्द रसायन - सं॰ डॉ॰ जानकीनाथ सिंह मनोज पृ॰ २०४।

कुँवरकुशल ने मम्मट के अनुसरण पर अपने ग्रंथ में सर्वप्रथम काव्य-प्रयोजन निरूपित किए हैं तत्पश्चात मम्मट की भाँति काव्य-हेतु और काव्य-स्वरूप पर प्रकाश न डालकर तनिक परिवर्तन के साथ काव्य-स्वरूप और काव्य-हेतु की चर्चा की है। किन्तु अधिकांश आचार्यों ने काव्य-स्वरूप को सर्वप्रथम निरूपित किया है। अतः यहाँ पर कुँवरकुशल द्वारा निरूपित काव्य-स्वरूप को सर्वप्रथम और तत्पश्चात् काव्य-प्रयोजन और काव्य-हेतु की चर्चा करना अभिप्रेत है।

काव्य-स्वरूप :

कुँवरकुशल ने काव्य का लक्षण देते हुए कहा है -

सुख अद्भुत को यह सदन व्यवहार सुकहि बीर।
चतुराई तैं ह्वै चतुर धरैं स्वच्छ मतिधीर ।।[1]

अर्थात् काव्य अद्भुत लोकोत्तर सुख का घर है व्यावहारिक ज्ञान देनेवाला है(इसके लिए टीका में बताया गया है कि राजा और प्रधान का भेद जानना ही व्यवहार है अर्थात् कौन राजा है और कौन प्रधान है इस प्रकार का ज्ञान काव्य से ही होता है) काव्य के ज्ञान से चातुर्य का विकास होता है, अच्छी बुद्धि आती है और मनुष्य धैर्यवान् बनता है। भरत से लेकर जितने भी काव्याचार्य हुए सभी ने काव्य-लक्षण में काव्य के लिए किन्हीं आवश्यक तत्वों का होना बतलाया है। भरत भी उसी को काव्य की संज्ञा से अभिहित करते हैं जो कोमल शब्दों से युक्त हो, जिसमें गूढ़ शब्दार्थ न हो, बुद्धिमान को सुख देने योग्य हो इत्यादि विशेषताओं से युक्त काव्य है।[2] भरत मुनि ने जो परिभाषा दी है वह पूर्णतः काव्य के लिए नहीं।

1- लखपत जस सिंधु, च.त. छन्द सं0 4

2- मृदुललितपदार्थं गूढशब्दार्थहीनम्, बुधजनसुखयोग्यम् बुद्धिमन्नृत्ययोग्यम्।
बहुरसकृतमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तम् भवति जगति योग्यम् नाटकम्प्रेक्षकाणाम्।।
हिंदी रीति-परंपरा के प्रमुख आचार्य-डॉ0 सत्यदेव चौधरी, पृ0 59 से उद्धृत।

उसमें ज्यादा ध्यान नाटक पर दिया गया है। भामह शब्द और अर्थ के सहित को काव्य मानते हैं।[1] मम्मट दोषहीन, शब्दार्थ सहित गुण युक्त और कभी-कभी अलंकारयुक्त को काव्य मानते हैं।[2] रसवादी विश्वनाथ रसात्मक वाक्य को काव्य की संज्ञा से अभिहित करते हैं।[3] जगन्नाथ ने रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाले शब्द को काव्य स्वीकार किया है।[4] कुन्तक उसी काव्य को आह्लादकारी मानते हैं जो वक्र उक्ति से सम्पन्न हो।[5]

हिंदी रीतिकालीन काव्याचार्यों ने भी संस्कृताचार्यों की परिभाषा के आधार पर ही काव्य के स्वरूप को स्पष्ट करने को प्रयास किया गया है। चिंतामणि की परिभाषा पूर्णतः मम्मट के आधार पर है।[6] कुलपति मिश्र ने अद्भुत सुख-सदन तथा शब्द-अर्थ को काव्य कहा।[7] सूरति मिश्र का कथन है कि जहाँ पर अलौकिक वर्णन मन का रंजन करनेवाला हो, अलौकिक रीति से किया गया हो ऐसे कुशल कवि के कर्म को सब कोइ काव्य कहता है।[8] श्रीपति[9] और सोमनाथ[10] भी मम्मट की भाँति गुणसहित

1- शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्। काव्यालंकार, पृ0 9

2- तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि। काव्यप्रकाश, पृ0 10

3- वाक्यम् रसात्मकम् काव्यम्। साहित्य दर्पण, पृ0 19

4- रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्। रस-गंगाधर, पृ0 13

5- शब्दार्थौ सहितौ वक्रकवि व्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यम् तद्विदाह्लादकारिणि।
हिंदी रीति-परंपरा के प्रमुख आचार्य-डॉ0 सत्यदेव चौधरी, पृ0 51 से उद्धृत।

6- सगुणालंकार सहित दोष रहित जो होइ।
शब्द अर्थ ताको कवित कहत विबुध सबकोइ।। वही-पृ0 67 से उद्धृत।

7- जग तें अद्भुत सुख सदन शब्द अर्थ कवित्त। र.र.प्र.कृ.

8- बरनन मन रंजन जहां रीति अलौकिक होइ।
निपुन कवि क कर्म कौ जु तिहि काव्य कहत सब कोइ।। काव्यसिद्धांत, छं0सं03

9- शब्द अर्थ बिन दोष गुन अलंकार रसवान।
ताको काव्य बखानिये श्रीपति परम सुजान।
हिंदी रीति-परंपरा के प्रमुख आचार्य-डॉ0 सत्यदेव चौधरी, पृ078 से उद्धृत।

10- सगुन पदारथ दोष बिनु पिंगल मत अविरुद्ध।
भूषन जुत कवि कर्म जो सो कवित्त कहि शुद्ध।।
वही-पृ0 79 से उद्धृत।

दोष रहित तथा अलंकार इत्यादि के समन्वित रूप को काव्य कहा। सोमनाथ तो छन्द की अपेक्षा भी रखते हैं। भिखारीदास भी रस को कविता का अंग मानते हुए कहते हैं कविता में अलंकार आभूषण के समान हैं, गुण स्वरूप और रंग का निर्धारण करते हैं तथा दोष काव्य को कुरूप बनाते हैं।[1]

इन समस्त आचार्यों की परिभाषाओं को देखते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इन सभी ने काव्यांगों की ही अपेक्षा काव्य में की है। काव्य के अंग शब्द, अर्थ, गुण रस तथा अलंकार हैं। इन्हीं के समावेश होने पर काव्य का स्वरूप स्पष्ट होता है। एक अन्य बात जो दिखलाई पड़ती है वह है उनकी किसी एक अंग की अनिवार्यता का मानना। यह प्रवृति संस्कृत के आचार्यों में अधिक दृष्टिगत होती है। इन विद्वानों ने काव्य की आत्मा सम्बंधी अपने अपने मत की अनिवार्यता का उद्घोष किया है। इन सभी विद्वानों की परिभाषाओं से जब हम कुँवरकुशल के काव्य-लक्षण की तुलना करते हैं तो हम इसमें पर्याप्त भिन्नता देखते हैं। जहाँ इन सभी विद्वानों ने काव्य लक्षण को शास्त्रीय और सैद्धांतिक धरातल पर प्रतिष्ठित किया है वहीं कुँवरकुशल काव्य को पूर्णतः व्यावहारिक धरातल पर प्रतिष्ठित करते हैं। इन्होंने काव्य को मानव जीवन के व्यवहार पक्ष से जोड़ा है। आज तक काव्य में शब्दार्थ तत्व, रस, गुण आदि पर ही बल दिया गया। इन्हीं तत्वों से युक्त जो रचना होगी वही कविता की संज्ञा से अभिहित की जावेगी, ऐसा विद्वानों का मत रहा है। परंतु कुँवरकुशल ने इन सबको छोड़कर उसके व्यावहारिक पक्ष पर बल दिया। वास्तव में देखा जाये तो काव्य मानव जीवन के दैनिक व्यवहार की ज्ञानवृद्धि में सहायक होता है। कुँवरकुशल ने जो राजा और प्रधान की बात कही, वह उचित ही है। काव्य के द्वारा ही सामान्य और विशेष में अन्तर करना सीख पाते हैं। साथ ही अच्छे बुरे का भेद करना भी जान लेते हैं। इसलिए ही 'रामचरितमानस'

1- रस कविता को अंग, भूषन हैं भूषन सकल।
गुन सरूप औ रंग, दूषन करैं कुरूपता।।
भिखारीदास (द्वितीय खण्ड) सं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० 5

में भी तुलसीदास जी ने सज्जनों के गुण निरूपित किए हैं, वहीं दूसरी ओर दुर्जनों के दुर्गुणों का भी वर्णन किया है ताकि हम स्वयं ही अपने मार्ग का चयन कर लें। जब हम दोनों मार्गों से परिचित हो जायेंगे तब हम उनके हानि-लाभ को दृष्टिगत करते हुए सरलतापूर्वक अपने अनुकूल मार्ग पर चल सकेंगे। स्पष्ट है हमें सज्जन के गुण ही आकर्षित करेंगे और हम दुर्गुणों से होनेवाली हानि से परिचित होने के पश्चात् उस बुरे मार्ग पर चलने की भूल नहीं करेंगे। ऐसा ही अभिप्राय कुँवरकुशल का भी रहा है। काव्य से हममें चातुर्य आता है, हमारी बुद्धि स्वच्छ होती है। हमारे मन में अच्छी भावनाओं का उदय होता है हममें धैर्य अथवा सहिष्णुता आती है। कष्टों में झुककर भी न घबराने की प्रेरणा हमें काव्य से ही प्राप्त होती है।

अतः हम कह सकते हैं कि कुँवरकुशल ने परंपरा से हटकर बिल्कुल अलग काव्य का लक्षण किया है। इन्होंने अपने लक्षण की प्रथम पंक्ति का पूर्वांश कुलपति मिश्र के लक्षण के आधार पर बताया है। इतना होते हुए भी हम एक बात तो यह कह सकते हैं कि इन्होंने जो कुछ भी कहा वह काव्य के स्वरूप पर कम और काव्य प्रयोजन पर अधिक प्रकाश डालने वाला प्रतीत होता है। मानों कुँवरकुशल काव्य से होने वाले लाभ से हमें अवगत करा रहे हों तथापि कुँवरकुशल द्वारा किये गये लक्षण के आधार पर कल्पना के बल पर हम एक उत्कृष्ट काव्य के स्वरूप से अवगत हो सकते हैं।

काव्य प्रयोजन :

कुँवरकुशल द्वारा निरूपित काव्य प्रयोजन इस प्रकार है -

संपति यश आनंद शिव करत काव्य कुंअरेस ।।
कांता संमिति कौं कह्यौ याही मैं उपदेस ।।[1]

1- ल.ज.सिं0, च.त.छन्द सं0 2

अर्थात् काव्य सम्पत्ति देनेवाला, यश देनेवाला, आनन्द प्रदान करनेवाला, शिव अर्थात कल्याण करनेवाला है। काव्य से ही कान्ता सम्मिति अर्थात रस (स्वयं कवि ने अपनी टीका में स्वीकार किया है) की प्राप्ति होती है और इसी से उपदेश मिलता है।

कुँवरकुशल से पूर्व संस्कृत तथा हिंदी के आचार्यों द्वारा काव्य प्रयोजन निरूपित किए जा चुके थे। ये सभी आचार्य एकाध भिन्न प्रयोजनों को छोड़कर प्राय: एक दूसरे के द्वारा बताये गये प्रयोजनों से सहमत रहे हैं। भामह ने अच्छे काव्य से चारों फलों की प्राप्ति, कीर्ति और प्रीति की प्राप्ति बताई है।[1] मम्मट ने भी कुछ अंतर के साथ इस प्रकार प्रयोजन निरूपित किए हैं -

काव्यम् यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यःपरनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे।।[2]

अर्थात् काव्य की रचना यश के लिए धन की प्राप्ति के लिए, लोक व्यवहार के ज्ञान के लिए, कष्ट निवारण के लिए अलौकिक आनंद की प्राप्ति के लिए और पत्नी की भाँति सरस तथा मीठे उपदेश की भाँति ही उपदेश की प्राप्ति के लिए की जाती है।

हिंदी रीतिकालीन आचार्यों में केशवदास[3] और मतिराम[4] ने पूर्णत: पाठक को दृष्टि में रखते हुए आनन्द प्राप्ति का प्रयोजन बताया है। चिन्तामणि

1- धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यम् कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधु काव्यनिबन्धम्।।
हिंदी रीति-परंपरा के प्रमुख आचार्य-डॉ० सत्यदेव चौधरी, पृ० 107 से उद्धृत।

2- काव्यप्रकाश, पृ० 5

3- रसिकन को रसिकप्रिया कीन्हीं केशवदास। रसिकप्रिया-सं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र,

4- रसिकन के रस को कियो, नयो ग्रन्थ रसराज।
मतिराम ग्रंथावली-सं० पं० कृष्णबिहारी मिश्र, पृ० 342

ने भी इसी प्रकार का प्रयोजन बताया है।[1] कुलपति मिश्र भी यश, सम्पति, आनंद, चातुर्य तथा मोक्ष नामक प्रयोजन बताते हैं।[2] सूरति मिश्र भी इसी भाँति कहते हैं।[3] कुमारमणि ने भामह की भाँति अर्थ धर्म आदि प्रयोजन वर्णित किए हैं।[4] भिखारीदास ने भी तप, सम्पति, यश तथा काव्य रसिकों को आनन्द प्राप्ति का उद्देश्य वर्णित किए हैं।[5]

1- भाष्या छंद निबद्ध सुनि सुकवि होत सानन्द।
हिंदी रीति-परंपरा के प्रमुख आचार्य- डॉ0 सत्यदेव चौधरी, पृ0 114 से उद्धृत।

2- जस संपति आनंद अति दुरितन डारै खोह।
होत कबित में चतुरई जगत राम बस होइ ।।
र.र.प्र.वृ. छन्द सं0 26

3- मोद उपावै चित्त कूँ, करै असुभ कौ नासु।
कीरति धन अरु इष्ट फल कहँ प्रयोजन तासु।

काव्यसिद्धान्त, छन्द सं0 7

4- अर्थ धर्म जस कामना लह्यितु मिटत विषाद।
सहृदय पावत कवित में ब्रह्मानन्द सवाद ।।

हिंदी रीति-परंपरा के प्रमुख आचार्य-डॉ0 सत्यदेव चौधरी, पृ0 116 की पाद टिप्पणी से उद्धृत।

5- एक लहैं तप पुंजन के फल ज्यौं तुलसी अरु सूर गोसाइँ।
एक लहैं बहु संपति केशव भूषन ज्यौं बरवीर बड़ाइँ।
एकन्ह को जस ही सौं प्रयोजन है रसखानि रहीम की नाइँ।
दास कवित्तन्ह की चरचा बुद्धिवन्तन को सुख दै सब ठाइँ ।।
भिखारीदास (द्वि0 खण्ड) सं0-विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 4

इन विद्वानों के द्वारा दिये गये प्रयोजनों के परिप्रेक्ष्य में कुँवरकुशल द्वारा दिये गये प्रयोजन देखते हैं तो हमें विदित होता है कि इन्होंने भी अन्य आचार्यों की भाँति अधिकांशत: मम्मट के प्रयोजन लिए हैं। परन्तु साथ ही एक प्रमुख अंतर दृष्टिगत होता है। कुँवरकुशल द्वारा निरूपित काव्य प्रयोजन अपनी युगानुरूप प्रवृत्ति का परिचायक है। मम्मट ने जहाँ पहले यश का उल्लेख किया है उसके बाद धन की प्राप्ति का प्रयोजन बतलाया है वहीं कुँवरकुशल ने पहले धन की प्राप्ति पर बल दिया है तत्पश्चात् यश-प्राप्ति का प्रयोजन आवश्यक माना है। वैसे देखा जाये तो कवि के सामने पहले यश-प्राप्ति का ही लक्ष्य होता है उसके बाद वह अर्थ के सम्बंध में सोच सकता है। यश के पश्चात् जब उसे अधिक संख्या में लोग जानने लगेंगे तभी वह अर्थ की प्राप्ति कर सकता है। इसके लिए उसे संघर्ष भी करना पड़ेगा। मम्मट के समय में भी इसी प्रकार की परिस्थिति रही है इसलिए उनकी दृष्टि में यश मुख्य और संपत्ति गौण प्रयोजन रहा है। लेकिन कुँवरकुशल के समय की परिस्थितियों में पर्याप्त भिन्नता रही है। कुँवरकुशल का युग सामन्तीय युग था। इस समय में कविता जनसामान्य के जीवन से हटकर राजकीय क्रोड़ में पल रही थी। उस समय में कवि अधिकांशत: मध्यम वर्ग से आते और राज्याश्रय की प्राप्ति के लिए संघर्ष तथा स्पर्धा करते थे। इसलिए उन्हें राजदरबार में प्रभावित करने वाली कविता सुनानी पड़ती थी उन्हें जन-सामान्य के हृदय पर छाप अंकित करने की तनिक भी आवश्यकता न थी। इसलिए राज्याश्रय प्राप्त होते ही उन्हें धन की प्राप्ति सरलतापूर्वक हो जाती थी तत्पश्चात् ही यश प्राप्ति की समस्या उनके समक्ष आती थी। यही कारण है कि कुँवरकुशल ने काव्य प्रयोजनों में पहले धन को स्थान दिया है तत्पश्चात् यश को।

इसके पश्चात् मम्मट द्वारा निर्देशित व्यवहार ज्ञान की प्राप्ति का प्रयोजन (जिसे कुलपति मिश्र ने भी ग्रहण किया है) कुँवरकुशल द्वारा प्रयोजन के संदर्भ में न बताकर काव्य-स्वरूप के संदर्भ में बताया गया है। वास्तव में व्यवहार ज्ञान की प्राप्ति एक उद्देश्य ही हो सकता है, यह कथन काव्य-स्वरूप के सम्बंध में इतना महत्त्व नहीं रखता। अत: इसका उचित स्थान काव्य-प्रयोजन में ही है। शेष सभी प्रयोजन कुँवरकुशल ने मम्मट के आधार पर ही वर्णित किए हैं।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि कुँवरकुशल द्वारा निरूपित काव्य प्रयोजन अन्य रीतिकालीन आचार्यों की तुलना में अधिक विस्तृत एवं युगानुरूप है। अपने युग की प्रमुख प्रवृत्ति धन प्राप्ति पर प्रकाश डालने वाला है।

काव्य-हेतु :

काव्य सृजन के पीछे किन्हीं कारणों का हाथ अवश्य रहा करता है। बिना कारणों के काव्योद्भव सम्भव नहीं, ऐसा सभी विद्वानों का मत रहा है। अपने इसी आशय को अभिव्यक्त करते हुए जयदेव ने कहा है -

> प्रतिभैव श्रुताभ्यास सहिता कवितां प्रति ।
> हेतुर्मृदम्बुसम्बद्धा बीजमाला लतामिव ।।[1]

इसी प्रकार कुँवरकुशल ने भी मिट्टी और घड़े का दृष्टान्त देते हुए कहा है -

> कारन बिन उपजै न कहुं ।। कारज सो कविराज ।।
> मृतपिंड जु कारन मिलत ।। उपजत घट ए काज ।।[2]

काव्य हेतु के सम्बंध में विद्वानों द्वारा बहुत कुछ कहा जा चुका है। दण्डी केवल प्रतिभा को मुख्य मानते हैं।[3] कुन्तक शक्ति,व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनों की

1- चन्द्रालोक, पृ0 6

2- ल.ज.सिं0, च.त.छन्द सं0 4

3- नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतम् च बहुनिर्मलम् ।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणम् काव्यसम्पद ।।
हिंदी रीतिपरंपरा के प्रमुख आचार्य-डॉ0 सत्यदेव चौधरी, पृ0 90 से उद्धृत ।

उपस्थिति मानते हैं।[1] मम्मट भी इन्हीं तीनों के समन्वय से काव्योत्पत्ति का होना स्वीकार करते हैं।[2] हिन्दी के आचार्यों ने भी इसी प्रकार से काव्य-हेतुओं की चर्चा की है। कुलपति मिश्र भी स्मृति, अभ्यास एवं सामर्थ्य नामक तीन हेतुओं को काव्योत्पत्ति का कारणरूप मानते हैं।[3] सूरति मिश्र मम्मट की भाँति शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास के समन्वय से काव्य की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं।[4] सोमनाथ[5], भिखारीदास[6] तथा प्रतापसाहि[7] भी इसी प्रकार का आशय प्रकटकरते हैं।

1- तस्यासारनिरासात्सारग्रहणाच्च चारण: करणे।
त्रितयमिदम् व्याप्रियते शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यास:।। वही-पृ० 90 से उद्धृत।

2- शक्ति निपुणता लोकशास्त्र काव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे।। काव्यप्रकाश, पृ० 7

3- शब्द अर्थ जिन ते बने नीकी भाँति कवित्त।
सुधि पावन समरथ्य तिन कारण कवि को चित्त।
र.र.प्र.वृ. छन्द सं० 33

4- कारण के प्रसाद जिहि सक्ति कहत सब कोइ।
वित्पत और अभ्यास मिल त्रय बिन काव्य न होइ।।
काव्यसिद्धांत, छन्द सं० 4

5- कवि सों सुनिबो बहुत पुनि करिबो अति अभ्यास।
तासों कविता होति है कारन हिये हुलास।।
बिना सुने अभ्यास के कविता होत अनन्त।
सो प्रसाद गुरु देव को बरनत सब गुनवन्त।।
हिंदी रीतिपरंपरा के प्रमुख आचार्य-डॉ० सत्यदेव चौधरी, पृ० 100 से उद्धृत।

6- सक्ति कवित्त बनाइबे की जेहि, जन्म नछत्र में दीन्हि विधातें।
काव्य की रीति सिखी सुकवीन्हि सों, देखी सुनी बहु लोक की बातें।
दास है जायें इकत्र ये तीनि बनी कविता मनरोचक तातें।
एक बिना न चलै रथ जैसे धुरन्धर सूत की चक्र निपातें।।
भिखारीदास (द्वि० खण्ड) सं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० 5

7- प्रथम संस्कृत वृति पुनि तीजो कहि अभ्यास।
कारण तीनि सुकाव्य के वरणत सुकवि विलास।।
हिंदी रीति-परंपरा के प्रमुख आचार्य-डॉ० सत्यदेव चौधरी, पृ० 103 से उद्धृत।

श्रीपति प्रतिमा के द्वारा शक्ति, निपुणता, लोकमत व्युत्पति और अभ्यास का प्रकाशन होना मानते हैं।[1]

हमारे आलोच्य आचार्य कुँवरकुशल का भी मत है कि -

शक्ति शास्त्र अभ्यास सौं काव्य लोक संस्कार।
परसत कविता ते परम रीझत हैं रिझवार ।।[2]

कुँवरकुशल ने इस छन्द की जो गद्यात्मक टीका प्रस्तुत की है उसमें इन्होंने शक्ति का अर्थ प्रतिमा से न लेकर ईश्वरेच्छा से लिया है और यह मम्मट से भिन्न अर्थ है। मम्मट का शक्ति से अभिप्राय प्रतिभा ही रहा है। मम्मट ने लोक व्यवहार ज्ञान और शास्त्राभ्यास को एक ही में सम्मिलित कर दिया है लेकिन कुँवरकुशल ने लोकव्यवहार और शास्त्राभ्यास दो अलग-अलग कारण माने हैं। वामन ने भी लोक को एक अलग ही कारण माना है।[3] हिन्दी रीतिकाल में श्रीपति ने भी लोकमत एक भिन्न कारण माना है। कुँवरकुशल ने संस्कार को भी एक कारण के रूप में सम्मिलित कर लिया है। मम्मट ने संस्कार को बीज रूप में स्वीकार किया है - शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कार विशेषः। कुन्तक का भी मत है कि -पूर्व जन्म और इस जन्म के संस्कारों के परिपाक से प्रौढ़ता को प्राप्त विशिष्ट कवित्व शक्ति प्रतिभा कहाती है। इस तरह जहाँ मम्मट और कुन्तक प्रतिभा को अंगीरूप में और संस्कार को अंगरूप में मानते हैं वहाँ कुँवरकुशल ने ऐसा न मान कर केवल संस्कार कहा। कुँवरकुशल ने स्पष्टतः प्रतिभा का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है। यों

1- शक्ति निपुणता लोकमत वित्पत्ति अरु अभ्यास।
अरु प्रतिभा ते होत है ताको ललित प्रकास।
वही - पृ0 100 से उद्धृत।

2- ल.ज.सिं0,च.त.छं0 सं0 5

3- लोको विद्या प्रकीर्णन्च काव्यांगनि।
काव्यालंकार सूत्रवृत्ति, पृ0 39

चाहे तो ईश्वरेच्छा को प्रतिभा के पर्याय के रूप में मान सकते हैं क्योंकि प्रतिभा ईश्वरीय वरदान ही होती है परन्तु संस्कार प्रतिभा का पर्याय नहीं हो सकती । क्योंकि संस्कार तो ईश्वर प्रदत्त प्रतिभा को और अधिक निखारने व सँवारने का काम करते हैं ।

इसके अतिरिक्त कुँवरकुशल ने `रीझत हैं रिझवार` कहकर टीका में इसका अर्थ राजकुमारों की प्रसन्नता बताया है । यह कथन उनकी तत्कालीन प्रवृति पर प्रकाश डालता है । रीतिकाल में काव्य सृजन राज दरबार में रह कर किया जाता था, राजकुमार एवं अन्य राजदरबारी सुन कर प्रसन्न हों, उससे आनन्द उठावें यही उद्देश्य कवि के सम्मुख था । अतः इन्होंने जहाँ मम्मट से प्रभाव ग्रहण किया है वहीं अपनी युग प्रवृति का भी चित्रण किया है ।

काव्य-शरीर :

कुँवरकुशल का मत है कि -

वाचक वाच्य सुदेह बनि जीव व्यंग्य कौं जांनि ।
गुन सो भूषन कौं गिन्यौ दूषन सो दुष दांनि ।।[1]

अर्थात् शब्द, अर्थ शरीर के समान हैं, आत्मा व्यंग्य है, गुन भूषण सदृश हैं और दोष दुख देने वाले हैं ।

संस्कृत और हिन्दी साहित्य में प्रसंगानुसार काव्य के तत्वों का वर्णन सभी विद्वानों ने किया है परन्तु बहुत कम ऐसे विद्वान् हैं जिन्होंने समग्रतया काव्य-शरीर पर अपने विचार प्रस्तुत किए हैं । काव्य-रूपक सर्वप्रथम राजशेखर की `काव्यमीमांसा`

1- ल.ज.सिं0,च.त.छं0 सं0 6

में इतने विस्तृत रूप में मिलता है। उनका कथन है कि - शब्द अर्थ शरीर, संस्कृत मुख, प्राकृत भुजा, अपभ्रंश जघनप्रदेश, पैशाची पैर, मिश्र भाषायें वक्ष, रस आत्मा, छन्द रोम, प्रश्न उत्तर प्रहेलिकादि वाग्विनोद हैं।[1] बाद में काव्य शरीर के सम्बंध में विद्वानों के जो मन्तव्य मिलते हैं वे इससे भिन्न हैं और संक्षिप्त भी हैं। इन आचार्यों ने काव्य के प्रमुख तत्वों को ही ग्रहण किया है परन्तु राजशेखर ने काव्य शरीर के अन्तर्गत शारीरिक और मानसिक दोनों सौन्दर्यों को ग्रहण किया गया है। साहित्यदर्पणकार का विचार है कि - 'काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम्, रसादिश्चात्मा, गुणाः शौर्यादिवत् दोषाः काणत्वादिवत्, रीतयोऽवयवसंस्थानविशेषवत् अलंकाराः कटककुण्डलादिवत्।'

हिंदी रीति ग्रंथों में भी साहित्यदर्पणकार का अनुसरण किया गया है। चिन्तामणि का कथन पूर्णतः साहित्यदर्पण पर आधारित है।[2] कुलपति मिश्र ध्वनि (व्यंग्य) को आत्मा का स्थान देते हुए कहते हैं कि व्यंग्य आत्मा शब्दार्थ शरीर, गुण गुणवत एवं दोष दोष की भाँति है।[3] सोमनाथ[4] तथा प्रतापसाहि[5] का भी यही

1- काव्यमीमांसा, पृ0 16

2- सब्द अर्थ तनु वर्णियै जीवित रस जिय जानि।
अलंकार हारादि ते उपमादि मन आनि।।
श्लेषादि गुन सूरतादिक से मानौं चित्त।
बरनौं रीति सुभाव ज्यों, वृत्ति वृत्ति सी मित्त।
जे रस आगे के धरम ते गुन बरनै जात।
आतम के ज्यौं सूरतादिक निश्चल अवदात।।
हिन्दी रीति-परंपरा के प्रमुख आचार्य-डॉ0सत्यदेव चौधरी, पृ0 68 से उद्धृत।

3- व्यंगि जीव ताको कहत सबद अरथ है देह।
गुन गुन भूखन भूखनै दूखन दूखन एह।। र.र.प्र.वृ.छं0 सं0 29

4- व्यंग्य प्राण अरु अंग सब शब्द अर्थ पहिचानि।
दोष गुन अरु अलंकृति दूषनादि उर जानि।।
हिंदी रीतिपरंपरा के प्रमुख आचार्य-डॉ0सत्यदेव चौधरी, पृ0 80 से उद्धृत।

5- व्यंग्य जीव कहि कवित्त को हृदय सु धुनि पहिचानि।
शब्द अर्थ कहि देह पुनि भूषण भूषण जानि।। वही-पृ0 86 से उद्धृत।

मत रहा है। भिखारीदास रस को काव्य का एक अंग मानते हैं और ~~भूषण~~ अलंकार आभूषणवत् गुण स्वरूप एवं रंग का परिचायक तथा दोष कुरूप बनाने वाले कहा है।[1]

आधुनिक आचार्यों में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी आनन्दवर्द्धन और मम्मटकी परंपरा का अनुसरण करते हुए ध्वनि को कविता-कामिनी की आत्मा मानते हुए अपना कथन प्रस्तुत किया है - 'शब्द और अर्थ ही उस कविता-सुन्दरी के शरीर हैं, ~~[illegible]~~ शब्दों और अर्थों के नाना प्रकार के हृदयग्राही 'कौशल' जिन्हें साहित्य-शास्त्र में अलंकार कहा जाता है, वे ही कविता-सुन्दरी के गहने हैं, शूरता, मधुरता आदि धर्म इस कविता-सुन्दरी के भी कुछ 'गुण' हैं। शास्त्र में उसका नाम भी गुण दिया हुआ है। जिस प्रकार कानापन, लंगड़ापन, लूलापन आदि दोष मनुष्य के हुआ करते हैं उसी प्रकार शब्द और अर्थ का कानापन, लंगड़ापन भी हुआ करता है, कविता-सुन्दरी के ये ही दोष हैं।[2]

भिखारीदास ने जो वर्णन किया है वह विश्वनाथ और द्विवेदी जी के वर्णन से भिन्न है। दासजी ने रस को आत्मा नहीं वरन् कवित्त का एक अंग माना है। इन्होंने तो आत्मा की चर्चा ही नहीं की है। विश्वनाथ रसवादी हैं इसलिए उनकी दृष्टि में काव्य की आत्मा रस ही निश्चित है। दूसरे शौर्य आदि गुण आंतरिक गुण हैं न कि बाह्य और भिखारीदास ने गुण को स्वरूप और रंग का पर्याय माना है। स्वरूप और रंग बाह्य गुण हैं। वे शारीरिक गुणों के द्योतक हैं आत्मा के नहीं। विश्वनाथ एवं द्विवेदी जी ने गुणों को आत्मिक गुणों के समान

1- रस कवित्त को अंग, भूषन हैं भूषन सकल।
गुन सरूप और रंग, दूषन करैं कुरूपता।।
भिखारीदास (द्वितीय खण्ड) सं0 विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ0 5

2- साहित्य का साथी- आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ0 38-39

माना है। इन तीनों विद्वानों में एक अन्य स्थान पर भी मतभेद है। द्विवेदी जी ध्वनि को आत्मा मानते हैं, विश्वनाथ रस को। भिखारीदास भी ध्वनि को ही आत्मा का स्थान देते होंगे क्योंकि रस उनके लिए एक अंग से बढ़कर अधिक अस्तित्व नहीं रखता।

इन परिभाषाओं के परिप्रेक्ष्य में कुँवरकुशल द्वारा दी गई परिभाषा किस सीमा तक साम्य और वैषम्य रखती है इस पर भी विचार कर लेना समीचीन समझते हैं। अन्य विद्वानों की भाँति कुँवरकुशल भी शब्दार्थ को ही काव्य-शरीर मानते हैं। कुँवरकुशल रसध्वनिवादी हैं और ध्वनि पर विशेष बल देने वाले हैं इसलिए काव्य की आत्मा का श्रेय व्यंग्य (ध्वनि) को ही दिया है। अब जो सबसे मुख्य अंतर दृष्टिगत होता है वह उनकी गुण सम्बंधी मान्यता का है। इन्होंने गुणों को भूषण माना है। काव्य के माधुर्य आदि गुण आत्मा के शौर्यादिवत् गुण माने गये हैं। आभूषण तो अलंकारों को ही माना गया है। यों भी अलंकार का अर्थ सजाने वाला अर्थात् शरीर को सजाने वाले उपकरण भूषण ही हैं। गुणों से आत्मा की सुन्दरता में वृद्धि होती है न कि शरीर की। शरीर के सौन्दर्य में अभिवृद्धि तो आभूषणों से ही होती है। गुण आंतरिक सौन्दर्य के उत्कर्षाधायक हैं और अलंकार बाह्य सौन्दर्य के। अत: कुँवरकुशल की यह मान्यता ठीक प्रतीत नहीं होती। यदि इनका गुणों से आशय भूषण से ही है तो काव्य में आनेवाले अलंकारों से इनका क्या अभिप्राय हो सकता है? यह प्रश्न सहज ही उठ खड़ा होता है। आगे यदि अलंकारों के सम्बंध में कुछ कहा होता तो इनके आशय से परिचित हुआ जा सकता था। लेकिन इस सम्बंध में वह मौन हैं। यदि हम ग्रन्थ के भीतर गुण निरूपण की नवम् तरंग को देखते हैं तो वहाँ प्रारंभ में रस को और अधिक सुन्दर बनाने का काम गुण करते हैं, यही मान्यता मिलती है। साथ ही यह भी कहा है कि दोष रहित होते हुए भी यदि गुणों का समावेश नहीं है तो काव्य में दीप्ति का समावेश नहीं हो सकता -

दोष रहित पैं गुन नहिं दीपै कविता दुष कौ काम।
कहौं इहांगुन कुंअर कवित के रस जुत अति अभिराम ।।[1]

1- ल.ज.सिं0, न.त.छन्द सं0 1

अत: इस कथन से गुणों की अनिवार्यता स्वयं सिद्ध है। अब यदि गुणों को आभूषण मानते हैं तो उनके कथन में पर्याप्त विरोध का भाव दृष्टिगोचर होता है। एक ओर तो गुणों की अनिवार्यता अपेक्षित समझते हैं और दूसरी ओर गुणों को आभूषणों के समतुल्य मानते हैं। यह तो सर्वविदित ही है कि यदि कामिनी प्राकृतिक रूप से सुन्दर है तो उसकी सुन्दरता आभूषणों की मोहताज नहीं होती। वह बिना आभूषणों के भी सुन्दर प्रतीत होती है। अलंकार अर्थात् आभूषण अनित्य है जबकि गुण नित्य। कुँवरकुशल की गुण सम्बंधी मान्यता को देखने से तो यही विदित होता है वे भी माधुर्य आदि गुणों को शौर्य आदि गुणों का पर्याय मानते हैं और अलंकारों को भूषण। इसके प्रमाण में हम लखपतिजससिन्धु की अर्थालंकार निरूपण की तेरहवीं तरंग का दोहा उद्धृत कर सकते हैं जहाँ उन्होंने अलंकार की नग और स्वर्ण के साथ तुलना की है -

नग मिलै कुंदन मिलत जोति सु बहुत जमाव ।।
त्यों कविता भूषान जुरत पूरन करत दिपाउ ।।
उपमानरू उपमेय ये पावहु भूषान प्रान ।।
कुंअरकुशल कविजन किये प्रथम इहाँ परमान ।।[1]

यहाँ अलंकार से तात्पर्य आभूषण ही है। इस तरह उनके कथन में असंगति दिखलाई पड़ती है। परन्तु ध्यान से देखा जाये तो यह असंगति सत्य प्रतीत नहीं होती। यदि गुणों को बाह्याभूषण मानते होते तो उन्होंने गुण निरूपण की नवम् तरंग में ही ऐसा कोई अन्य संकेत किया होता अथवा यहीं पर अपनी बात को स्वीकार कराने के लिए कोई तर्क अवश्य प्रस्तुत करते क्योंकि इस तरह तो ये परम्परा से हटकर अपनी बात कह रहे हैं। अपनी नवीन मान्यता को सर्वसम्मत रूप देने के लिए

1- ल.ज.सिं0 त्र.त.छन्द सं0 2,3

तर्क की आवश्यकता पड़ती है। परन्तु ऐसा कोई प्रयास यहाँ पर नहीं किया गया है। अत: यही कहा जा सकता है कि गुण अर्थात् आभूषण से तात्पर्य बाह्याभूषण से न होकर आंतरिक आभूषणों से ही है।

इस सम्बंध में एक अन्य तर्क यह प्रस्तुत किया जा सकता है कि कुँवरकुशल अलंकारवादी नहीं हैं। ये मम्मट की भाँति रसध्वनिवादी हैं। यदि दण्डी और भामह की तरह अलंकारवादी होते तो यह निश्चित ध था कि ये भी अलंकारों को ही काव्य के नित्यधर्म के रूप में स्वीकार करते। कुँवरकुशल अलंकारों की अपेक्षा तो रखते हैं लेकिन अनिवार्यता नहीं और दूसरी ओर गुणों की अनिवार्यता स्वीकार करते हैं। रस के उत्कर्षाधायक तो गुण ही है(जिसे स्वयम् कुँवरकुशल ने भी माना है) अलंकार नहीं। अत: उनके कथन में पाई जानेवाली विसंगति सत्य प्रतीत नहीं होती। अत: गुणों को बाह्याभूषण नहीं वरन् आंतरिक आभूषणों के समकक्ष माना।

यहाँ पर एक प्रश्न यह उठ खड़ा होता है कि गुण रस के अर्थात आत्मा के उत्कर्षाधायक है जबकि कुँवरकुशल तो व्यंग्य को आत्मा के पद पर प्रतिष्ठित करते हैं और गुणों को रस का सौन्दर्य बढ़ाने वाले साधन कहते हैं। जब गुणों को आभूषण मानते हैं तो वे रस के आभूषण हुए न कि आत्मा(व्यंग्य) के) परन्तु इस सम्बंध में यह कहा जा सकता है कि ये रसध्वनिवादी हैं। व्यंग्य के पश्चात् काव्य का महत्वपूर्ण अंग रस ही है। यों भी रस आंतरिक तत्व है न कि बाह्य। क्योंकि रस कोई दिखलाई पड़नेवाली वस्तु नहीं, वरन् यह तो अनुभवगम्य है। इसे तो मात्र अनुभव किया जा सकता है। व्यंग्य(आत्मा) के समानार्थक यदि कोई अवयव है तो वह रस है। यदि रस का उत्कर्ष होगा तो उससे ध्वनि भी आलोकित होगी। इस तरह यह त्रिकोण एक दूसरे पर आधारित है। अत: गुण आंतरिक आभूषण ष होने के नाते रस के सौंदर्य में श्रीवृद्धि करने वाले हैं। उसी के साथ-साथ ध्वनि को भी महत्व प्रदान कराने वाले हैं। अत: हम कह सकते हैं कि गुण आंतरिक आभूषण

शौर्य आदि के समकक्ष आ सकते हैं, न कि बाह्य आभूषण कलकुण्डल आदि के।

काव्य-भेद : - कुँवरकुशल काव्य के तीन भेद बताते हैं -

इकु उत्तम मध्यम अरू तीजो अधम तहकीक ।।
जीव व्यंग्य है सरस अहं लखि तहं कवि की लीक ।।[1]

संस्कृत और हिंदी काव्यशास्त्र में काव्य के भेद ध्वनि के आधार पर किये गये हैं, केवल वामन ही ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने माध्यम के आधार पर काव्य का वर्गीकरण किया है - पहला गद्य तथा दूसरा पद्य तथा विषय के आधार पर भी दो भागों में वर्गीकृत किया है - निबद्ध और अनिबद्ध ।[2] मम्मट के अनुसार काव्य तीन प्रकार का होता है - उत्तम, मध्यम और अवर(चित्रकाव्य) ।[3] रसगंगाधरकार चार प्रकार का काव्य बताते हैं ।[4] हिंदी में कुलपति मिश्र[5] सोमनाथ[6] मम्मट का अनुसरण करते हुए काव्य के तीन ही भेद मानते हैं। प्रतापसाहि[7] भी इसी मत के समर्थक हैं। जहाँ

1- ल.ज.सिं0, च.त.छन्द सं0 6

2- काव्यालंकार सूत्रवृत्ति- पृ0 55-59

3- काव्यप्रकाश, पृ0 13, 15, 16

4- तच्चोत्तमोत्तमोत्तममध्यमाधमभेदाच्चतुर्धा । रसगंगाधर-पृ0 61

5- सो कवित्त हैं तीन विधि उत्तम मध्यम और ।

र.र.प्र.वृ.छन्द सं0 30

6- उत्तम मध्यम अधम अस त्रिविध कवित्त सुमानि ।
हिंदी रीति परंपरा के प्रमुख आचार्य-डॉ0 सत्यदेव चौधरी, पृ0 80

7- सो कवित गनि तीनि विधि उत्तम मध्यम नाम ।
अवरसु अधम बखानिये बखत कवि परिनाम ।
हिंदी रीति परंपरा के प्रमुख आचार्य-डॉ0 सत्यदेव चौधरी, पृ0 86 से उद्धृत ।

उपर्युक्त आचार्यों ने व्यंग्य की प्रधानता के आधार पर काव्य को वर्गीकृत किया है वहीं देव ने अभिधा को ही मुख्य मानकर काव्य को वर्गीकृत किया है।[1]

इन सभी परिभाषाओं के परिप्रेक्ष्य में देखते हैं कि कुँवरकुशल भी मम्मट की परम्परा का अनुसरण करते हुए व्यंग्य को प्रधान मानकर काव्य के तीन भेद ही स्वीकार करते हैं। निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि काव्य के जो भेद किए गए हैं वे उसके अर्थ तत्व को लक्षित करके किए गए हैं। जिस काव्य में अर्थोव्यता जितनी ही अधिक होगी, जो काव्य जितना अधिक प्रभावपूर्ण होगा वह काव्य उतना ही अधिक उच्च व श्रेष्ठ होगा। काव्य में अर्थ की क्षमता की प्रमुखता होती है। इसलिए अर्थ की उच्चता ही काव्य की उच्चता का निर्धारण करती है।

अतः हम कह सकते हैं कि कुँवरकुशल ने काव्य-स्वरूप, काव्य प्रयोजन, काव्य-हेतु तथा काव्य-शरीर का निरूपण अपने युग के अनुरूप तथा अपनी बौद्धिकता का परिचय देते हुए किया है। अपने वर्णन में अपने पूर्ववर्ती आचार्यों का मात्र अन्धानुकरण न करते हुए अपनी विशिष्ट विचारणा शक्ति का परिचय देते हुए अपने कथन प्रस्तुत किये हैं और अपनी चिन्तनधारा को भी प्रवाहित किया है। तथा अपने नूतन मत को भी प्रतिष्ठित किया है।

1- अभिधा उत्तम काव्य है, मध्यम लक्षणा लीन।
अधम व्यंजना रस कुटिल, उलटी कहत नवीन।।
देव और उनकी कविता - डॉ० नगेन्द्र, पृ० 63